सत्संग वाचनमाला

भाग-२

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयते ॥

सत्संग शिक्षण श्रेणी की पाठ्यपुस्तक : ९

सत्संग वाचनमाला

भाग - २

संपादक

साधु भगवत्प्रियदास

(वाचस्पति)

अनुवादक

योगेन्द्र प्रकाशजी

प्रेरक

प्रमुखस्वामी महाराज

प्रकाशक

स्वामिनारायण अक्षरपीठ

शाहीबाग, अहमदाबाद - ३८० ००४

SATSANG VĀCHANMĀLĀ PART - 2 (Hindi Edition)
(Life sketches of prominent devotees of Lord Swāminārāyan)

By Shāstri Bhagwatpriya Swāmi
Translated by Yogendra Prakashji

A textbook for examination prescribed under the curriculum set by Bochāsanwāsi Shri Akshar Purushottam Swāminārāyan Sanstha.

Inspirer: HDH Pramukh Swāmi Mahārāj

Presented by:
Bochāsanwāsi Shree Akshar Purushottam Swāminārāyan Sanstha
Shāhibaug, Amdāvād - 380 004. India.

Publishers:
SWĀMINĀRĀYAN AKSHARPITH
Shāhibaug, Amdāvād - 380 004. India.

1st Edition:
July 2000. Copies: 2,000

Warning:
Copyright: ©Swāminārāyan Aksharpith
This book is published by Swāminārāyan Aksharpith. Material from this book cannot be used without due acknowledgement to Swāminārāyan Aksharpith, Shāhibaug, Amdāvād. For any reprints the written permission of the publishers is necessary.

ISBN: 81-7526-168-4

रजूकर्ता : बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था, अमदावाद - ४

प्रेरक : प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज

सूचना : कॉपीराईट : ©स्वामिनारायण अक्षरपीठ
इस पुस्तक के अंश को किसी भी स्वरूप में प्रकाशित करने के लिए प्रकाशक की लेखित पूर्व परवानगी लेनी आवश्यक है ।

प्रथम आवृत्ति : जुलै २०००

प्रति : २,०००

कीमत : रू. १२-००

मुद्रक एवं प्रकाशक :
स्वामिनारायण अक्षरपीठ
शाहीबाग, अहमदाबाद - ३८० ००४

कृपा कथन

ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज द्वारा स्थापित एवं पोषित युवक प्रवृत्तियाँ बहुत ही तेज़ी से फैल रही हैं । इन युवक प्रवृत्तियों में भाग लेनेवाले युवकों की आकांक्षाओं और ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिए और उन्हें भगवान स्वामिनारायण द्वारा स्थापित अक्षरपुरुषोत्तम के सिद्धान्तों की ओर अभिमुख करने के लिए बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था ने पाठ्यक्रम बनाया है । इस पाठ्यक्रम की उत्तरोत्तर पुस्तकों के प्रकाशन का आयोजन स्वामिनारायण अक्षरपीठ ने किया है ।

इन पुस्तकों के माध्यम से सत्संग के बालकों एवं युवकों को व्यवस्थित, लगातार और शुद्ध ज्ञान सरल भाषा में उपलब्ध हो ऐसी योजना बनाई गई है । भगवान स्वामिनारायण द्वारा प्रवर्तित आदर्शों के पालन एवं प्रचार के लिए ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज द्वारा स्थापित यह संस्था, इस प्रवृत्ति द्वारा उन आदर्शों का, संप्रदाय की उस भव्य प्रणाली का और उसके द्वारा महान हिन्दू धर्म की संस्कृति का प्रचार करेगी ।

स्वामिनारायण भगवान के दिव्य संदेश को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने का कार्य इस प्रवृत्ति का उद्देश्य है । विभिन्न भाषाओं में इन पुस्तकों का प्रकाशन हो ऐसी योजना बनाई गई है । आशा है कि संप्रदाय के एवं संप्रदायेतर सभी धर्मप्रेमी मुमुक्षु इस प्रवृत्ति को अपनाएँगे और तन, मन और धन से सहयोग देंगे ।

बालकों तथा युवकों को प्रोत्साहन देने इन पुस्तकों के आधार पर परीक्षा लेकर उन्हें प्रमाणपत्र दिए जाएँगे । इस पुस्तक को तैयार करने में पूज्य ईश्वरचरण स्वामी, रमेशभाई दवे, किशोरभाई दवे तथा अन्य सहयोगियों को शुभाशिष ।

- शास्त्री नारायणस्वरूपदास (प्रमुखस्वामी महाराज) का
अति हेतपूर्वक
जय श्री स्वामिनारायण

निवेदन

पूर्ण पुरुषोत्तम श्री सहजानंद स्वामी कृपा करके इस ब्रह्माण्ड में पधारे । वे अपने साथ अपने अक्षरधामरूप श्री गुणातीतानंद स्वामी और अक्षरमुक्त सद्‌गुरु श्री गोपालानन्द स्वामी, सद्‌गुरु मुक्तानन्द स्वामी, सद्‌गुरु निष्कुलानन्द स्वामी, सद्‌गुरु नित्यानन्द स्वामी, मुकुन्द ब्रह्मचारी, दादाखाचर, पर्वतभाई, गोरधनभाई, लाडूबा, जीवुबा आदि को लेते आये । इन महासमर्थ मुक्तों के चरित्र भी अद्‌भुत हैं । श्रीजी महाराज के प्रति उनकी निष्ठा एवं भक्ति प्रेरणादायक थी । श्रीजी महाराज ने उनकी सामर्थ्य, उनकी विशेषता छिपा रखी थी । फिर भी प्रसंगवश कभी-कभी व्यक्त हुई उनकी विशेषता कम आश्चर्यकारक नहीं है ।

इन मुक्तों के चरित्र अत्याधिक प्रेरणादायी होने के कारण 'सत्संग वाचनमाला' नामक इस पुस्तिका में उनका संकलन किया गया है । इसी परंपरा में आनेवाले कुछ दूसरे भी अक्षरमुक्तों के चरित्रों का इसमें समावेश किया गया है ।

इस पुस्तिका के दूसरे भी भाग प्रकाशित होंगे, जिनमें सभी विशिष्ट मुकात्माओं के चरित्रों का निरूपण होगा ।

सत्संग परीक्षाओं के अभ्यासक्रम के एक अंश के रूपमें इन पुस्तिकाओं की रचना की गई है, तृतीय परीक्षा 'सत्संग परिचय' के लिए प्रकाशित की गई यह पुस्तिका आप के हाथ में रखते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं ।

स्वामी श्रीजी एवं प्रकट गुरुहरि स्वामीश्री नारायणस्वरूपदासजी को प्रसन्न करने के लिए, सत्संगी किशोर इस अभ्यासक्रम को तैयार करके सत्संग की परीक्षाएँ दें और उनमें सफलता पाकर उच्च प्रमाणपत्र प्राप्त करें, बस यही कामना और अभ्यर्थना ।

- संपादक मंडल

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयते ॥

अमे छौ स्वामीनां बाळक, मरीशुं स्वामीने माटे ।
अमे छौ श्रीजीतणां युवक, लडीशुं श्रीजीने माटे ॥

नथी डरता नथी करता, अमारा जाननी परवा ।
अमारे डर नथी कोईनो, अमे जन्म्या छीए मरवा ॥

अमे आ यज्ञ आरंभ्यो, बलिदानो अमे दईशुं ।
अमारा अक्षरपुरुषोत्तम, गुणातीत ज्ञानने गाईशुं ॥

अमे छौ श्रीजीतणा पुत्रो, अक्षरे वारस अमारो छे ।
स्वधर्मी भरम चोळी तो, अमारे क्षोभ शानो छे ॥

जुओ छौ मोतीना स्वामी, न राखी काँई ते रवामी ।
प्रगट पुरुषोत्तम पामी, मळ्या गुणातीत स्वामी ॥

अनुक्रमणिका

क्रम	चरित्र	पृष्ठ
१.	विद्यावारिधि सद्‌गुरु नित्यानन्द स्वामी	१
२.	प्रेमसखी प्रेमानन्द स्वामी	११
३.	मुकुन्दानन्द वर्णी (मूलजी ब्रह्मचारी)	२३
४.	आचार्य श्री अयोध्याप्रसादजी महाराज	३१
५.	भज़्तराज दादाखाचर	३७
६.	भज़्तरत्न लाडूबा	४५
७.	स्वामी जागा भज़्त	५१
८.	श्री कृष्णजी अदा	६५

सत्संग वाचनमाला

भाग - २

सद्‌गुरु नित्यानन्द स्वामी

विद्यावारिधि
सद्‌गुरु नित्यानन्द स्वामी

लखनऊ के पास में दतिया नाम का एक गाँव है । वहाँ विष्णु शर्मा नाम के ब्राह्मण रहा करते थे । उनकी पत्नी का नाम विरजादेवी था । ये पवित्र दज़्पती भगवत्-परायण तथा धर्म के अनुरूप जीवन व्यतीत करनेवाले थे । इस कारण इनका समाज में बड़ा मान-सन्मान था । पूर्वजन्मों के पुण्यों के कारण उनके दो पुत्र हुए । बड़े का नाम गोविन्द और छोटे का नाम दिनमणि था । दिनमणि का जन्म चैत्र शुज़्ला ९, संवत् १८४९ (सन् १७९३) को हुआ था ।

कहावत है 'होनहार बिखान के होत चिकने पात' (पूत के पैर पालने में ही दिखाई दे जाते हैं) । उसीके अनुसार दिनमणि की रुचि विद्या-अध्ययन की थी । विनय, विवेक आदि गुणों के कारण वे सबको बहुत प्रिय लगते थे । आठ वर्ष की आयु में दिनमणि का शास्त्रविधि से यज्ञोपवीत संस्कार किया गया ।

आचार्य बनने की इच्छा से दिनमणि विद्या के केन्द्र काशी में पढ़ने के लिए गये । वहाँ विद्या ग्रहण करते और शास्त्रों का अज़्यास करते हुए दिनमणि के पूर्वजन्म के संस्कार उदय हो गये । उन्हें लगा कि, शास्त्रों के अध्ययन से आचार्य तो बना जा सकता है, वाद-विवाद तो किया जा सकता है, परन्तु भगवान का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता । ज्ञानमार्ग से परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए तो अन्तर में ज्ञान का उदय होना चाहिए । भज़्ति-मार्ग से परमात्मा के दर्शन के लिए किसी सन्त की प्राप्ति होनी चाहिए । किन्तु ऐसे संत कहाँ मिले ? उनके अन्तर ने कहा : 'सत्पुरुष की प्राप्ति तो तीर्थस्थान में ही सज़्भव है ।' अत: दिनमणि सन्त की खोज में तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े ।

वे अनेक तीर्थस्थानों पर गये पर सच्चे ब्रह्मरूप सन्त उनको न मिले ।

दिन बीतते गये, वे चलते गये, मन उदास होता गया । जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम् आदि पवित्र तीर्थों में स्नान किया, मन्दिर में भगवान के दर्शन किये परन्तु सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हो रही थी । उदासी तो थी किन्तु निराशा नहीं थी । पग आगे ही आगे बढ़ रहे थे । द्वारिका तीर्थ में पहुँच गये । द्वारिका से विसनगर आये । यहीं उन्हें शुभ समाचार मिले कि 'भगवान स्वामिनारायण स्वयं प्रगट हुए हैं, अपने परमहंसों के साथ गुजरात में विचरण कर रहे हैं । हजारों मुमुक्षु उनका आश्रय ग्रहण कर रहे हैं ।'

इन समाचारों से दिनमणि को अति प्रसन्नता हुई । वे भगवान स्वामिनारायण से मिलने के लिए उतावले हो गये । उन्हें जो मिलता उससे भगवान स्वामिनारायण के विषय में वे पूछते ।

इस प्रकार पूछते पूछते वे उज़र गुजरात के नगर ऊंझा में आये । उन्होंने नगर के बाहर विशाल सरोवर के किनारे हजारों भज़्तों की भीड़ देखी । एक ऊँचे मंच के ऊपर भगवान स्वामिनारायण सन्तमण्डली के बीच में बैठे हुए उन्हें दिखाई दिये । उन्होंने भगवान स्वामिनारायण के दूर से ही दर्शन किये । दिनमणि को अपार शान्ति का अनुभव हुआ । उन्हें ऐसा लगा जैसे ये तो पुराने परिचित हैं । तत्काल उनकी चेतना महाराज के स्वरूप में समा गई । उन्हें अनुभव हुआ, 'अन्ततोगत्वा मैंने भगवान को पा लिया ।'

विश्वास होते ही वे तीर की तरह महाराज की ओर बढ़े और महाराज के पास आकर उनके चरणों में गिर पड़े ।

उन्होंने प्रार्थना की, 'हे प्रभु ! आप तो हमारे सर्वस्व हैं, मैं आपका दास बनना चाहता हूँ । मुझे अपने चरणों से कभी पृथक् मत करना ।'

शरणागत-वत्सल महाराज अपने स्थान से उठे और प्रेम से दिनमणि को आलिंगन किया । इस तेजस्वी सद्गुणी भज़्त की तेजस्वी मुखाकृति पर अंकित पूर्ण वैराग्य को कोई भी पढ़ सकता था, महाराज ने उन्हें अपने पास शरण दे दी ।

दिनमणि ने कुछ समय तक महाराज के साथ विचरण किया । कुछ दिनों के पश्चात् उन्हें मेघपुर गाँव में भागवती दीक्षा दी और 'नित्यानन्द' शुभ नाम दिया ।

जैसा उनका नाम वैसे ही वे नित्य भगवान के आनन्द में सदा तृप्त

रहते । वेदादि शास्त्र तो उन्होंने पहले ही अधिकृत कर लिये थे, किन्तु न्याय, मीमांसा आदि दर्शनशास्त्रों का आचार्यत्व प्राप्त करने के लिए महाराज ने उन्हें एक महान विद्वान पंडित के पास भेजा । नित्यानन्द स्वामी ने दर्शनशास्त्रों का बड़ी लगन से अध्ययन किया । दर्शनशास्त्रों के अध्ययन से उनकी तीक्ष्ण बुद्धि खिल उठी । वे महान पंडित इस अद्भुत शिष्य को पाकर और उनकी अप्रतिम प्रतिभा एवं आकर्षक व्यज़्तित्व से बहुत बहुत धन्य हुए । थोड़े ही समय में नित्यानन्द स्वामी ने महाराज के विद्वान परमहंसों में अतिमान्य हुए । महाराज ने उनकी विद्वज़्ता के अनुरूप योग्य पदवी दी । परमहंसों में उन्हें एक अग्रगण्य सद्गुरु बनाया ।

वड़ोदरा के महाराजा सयाजीराव की विद्वत्सभा के पंडित उस समय स्वामिनारायण सज़्प्रदाय के उत्कर्ष एवं प्रसिद्धि से ईर्ष्या करने लगे थे । निरे आचार्यत्व का यही दोष है । ज्ञानीपने का अहंकार हो जाता है। उन पंडितों ने अपने साथ शास्त्रों के आधार पर शास्त्रार्थ करने की चुनौती नित्यानन्द स्वामी को दी । शास्त्रार्थ के प्रारज़्भ में ही, नित्यानन्द स्वामी ने उन्हें पूछे गये प्रश्न में ही दोष को भाँप लिया । पूर्वपक्ष के दोष को उजागर करके उन्होंने पंडितों को तुरन्त हरा दिया । इस सभा में उन्होंने स्वामिनारायण सज़्प्रदाय को सनातन सिद्ध किया और बताया कि यह वेदों के अनुसार है । भगवान स्वामिनारायण द्वारा प्रतिपादित दर्शन अविवादित है ।

एक बार श्रीजीमहाराज, नित्यानन्द स्वामी आदि सन्तों के साथ जूनागढ़ पधारे । नवाब ने अपने महल में महाराज का भव्य स्वागत किया और श्रद्धा से पूजा भी की । वहाँ नरसिंह पंड्या नाम का एक मूर्ख एवं ईर्ष्यालु ब्राह्मण महाराज को शास्त्रार्थ में हराने आया । कुछ ईर्ष्यालु नागर ब्राह्मण जो उस षडयंत्र में नरसिंह पंड्या के साथ शामिल थे, नवाब से बोले, 'यह नरसिंह पंड्या स्वामिनारायण से शास्त्रचर्चा करना चाहता है ।'

जब महाराज को यह ज्ञात हुआ तो महाराज ने नवाब से कहा, 'शास्त्रार्थ होने दीजिए । सभी प्रश्नों के उज़र नित्यानन्द स्वामी देंगे ।' इतना कहकर महाराज सभा छोड़कर अपने निवास स्थान पर आ गये ।

नरसिंह पंड्या के प्रश्न थे, 'भगवान के हाथ, मुख, सिर और शरीर के अन्य अंगों को छोड़कर हमें यह कहा जाता है कि केवल इनके पदों की पूजा

करो, ज़्यों ? और तुम लोग स्वामिनारायण को भगवान ज़्यों कहते हो ?'

नित्यानन्द स्वामी को उसके प्रश्न अति मामूली और छिछले लगे । उन्होंने उज़र दिया, 'भगवान के चरणों की पूजा करके हम अपनी दासत्व भज़्ति सिद्ध करते हैं । यह उज़म प्रकार की भज़्ति है ।'

मूर्ख पंड्या बोला, 'नहीं, ऐसा नहीं है । भगवान के चरण सबसे अधिक पवित्र होते हैं और शेष उनके सभी अंगों में माया का वास है ।' उसकी बात सुनकर सारी सभा खिलखिला कर हँस पड़ी ।

नवाब ने कहा : 'खुदा के तो सभी अंग पाक पवित्र हैं ।'

इस तरह पंड्या पहले ही प्रश्न पर हार गया तो भी निर्लज्जता से उसने दूसरा प्रश्न पूछा, 'जिस किसी को भगवान बनना हो, उसे पहले प्रस्थानत्रयी[१] पर टीका लिखनी चाहिए । जब काशी के पंडित उस टीका को स्वीकार कर मान्यता दें, तब ही कोई भगवान होने का दावा कर सकता है । ज़्या इस स्वामिनारायण भगवान ने ऐसी कोई टीका लिखी है ?'

जब नित्यानन्द स्वामी ने मूर्खता भरा यह दूसरा प्रश्न सुना तो उन्होंने उज़र दिया, 'यह सूर्य है, इसे यदि लोग सूर्य कहें ज़्या तभी यह सूर्य है ? नहीं तो सूर्य नहीं ?'

नरसिंह पंड्या की मूर्खता देखकर नवाब को क्रोध आ गया और उसे राज्यसभा से बाहर निकाल दिया । अन्य दूसरे द्वेषी यह देखकर दुम दबा गये । तब नवाब ने नित्यानन्द स्वामी से भगवान के स्वरूप, भज़्ति, उपासना आदि पर बहुत सारी बातें कीं । सब बातें सुनकर नवाब बहुत प्रसन्न हुए ।

इस रीति से नित्यानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज के साथ रहकर शास्त्रार्थ करके सज़्प्रदाय की प्रतिष्ठा विद्वानों के बीच बहुत बढ़ाई । बहुत सारे मुमुक्षु अपनी पुरानी मान्यताओं को छोड़कर श्रीजीमहाराज की शरण में आये । उन्हें सत्य ही विद्यावारिधि कहा जाता था ।

नित्यानन्द स्वामी को श्रीजीमहाराज के सर्वोपरि स्वरूप में दृढ़ निष्ठा थी । जब वरताल में 'सत्संगिजीवन' ग्रंथ लिखा जा रहा था, तब महाराज के दिव्य स्वरूप के विषय में प्रश्न खड़ा हुआ । अधिकांश सन्तों ने उनकी राम और कृष्ण के अवतारों से तुलना की ।

१. प्रस्थानत्रयी का अर्थ है ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता ।

नित्यानन्द स्वामी ने कहा : 'श्रीजीमहाराज तो सर्व अवतारों के अवतारी हैं । सर्व कारणों के कारण, परात्पर साक्षात् पुरुषोज़म नारायण हैं । हम उन्हें दूसरे अवतारों के समान कैसे कह सकते हैं ?'

इस प्रश्न पर संतों में मतभेद था । यहाँ तक कि श्रीजीमहाराज भी नित्यानन्द स्वामी के मत के विरुद्ध हो गये । महाराज ने उन्हें बहुत समझाया परन्तु नित्यानन्द स्वामी तो अपनी निष्ठा में हिमालय की तरह अडिग थे । अन्त में महाराज ने उन्हें दुराग्रही कहकर विमुख कर दिया (सत्संग से निकाल दिया)।

नित्यानन्द स्वामी ने सभाओं में जाना बन्द कर दिया । उन्होंने भोजन भी छोड़ दिया और अखंड ध्यान-भजन में लीन रहने लगे । ऐसे सात दिन बीत गये । आठवें दिन श्रीजीमहाराज ने नित्यानन्द स्वामी को सभा में बुलवाया, उनकी पूजा की, प्रसादी का हार पहनाया और उनकी भज़्ति की प्रशंसा की । सबको बड़ा आश्चर्य हुआ ।

महाराज ने परमहंसों को समझाया : 'नित्यानन्द स्वामी की निष्ठा सच्ची है । उपासक में ऐसा गुण अवश्य होना चाहिए । आप लोग भी मेरे स्वरूप की वैसे ही उपासना करो, जैसे ये करते हैं ।'

नित्यानन्द स्वामी स्वभाव से शान्त और गज़्भीर थे, परन्तु हास्य-विनोद रहित नहीं थे । श्रीजीमहाराज फूलदोल उत्सव में नित्यानन्द स्वामी को रंग डालनेवाली या नृत्य करनेवाली टोली का अगुआ बनाया करते थे । स्वामी खूब उत्साह और आनन्द से भाग लेते ।

एक बार, श्रीजीमहाराज की तबियत कुछ ढीली थी । वे अक्षरओरड़ी में दोपहर बाद आराम कर रहे थे । उन्होंने निष्कुलानन्द स्वामी को बुलवाया और उनसे कहा : 'मेरे लिए बैलगाड़ी लाओ, मैं सालेमाळ पर्वत पर तप करने जाना चाहता हूँ ।'

निष्कुलानन्द स्वामी ने कहा : 'महाराज ! आपकी तबियत तो ठीक नहीं है । आपकी तबियत ठीक हो जाए तब हम चलेंगे ।'

महाराज ने इस बात पर ध्यान न देकर आग्रह जारी रखा : 'हम अभी वहाँ जाना चाहते हैं ।'

इतने में शुकमुनि नित्यानन्द स्वामी के पास आये और सारी बात

बताई । नित्यानन्द स्वामी अक्षरओरड़ी गये और चार आदमियों की सहायता से महाराज की चारपाई ऊपर उठवा ली और उसे ऊपर-नीचे झुलाने लगे ।

महाराज एकदम उठकर पूछने लगे, 'अरे ! यह चारपाई ज़्यों हिल रही है ?'

नित्यानन्द स्वामी ने शान्त भाव से कहा : 'महाराज ! यह तो सालेमाळ पर्वत का रास्ता ऐसा ही उबड़-खाबड़ है, इसलिए आप की चारपाई हिलती-डुलती है ।'

'यह ज़्या सालेमाळ है ? यह तो अक्षरओरड़ी है, गप्पें ज़्यों हाँक रहे हो ?' महाराज ने कहा ।

इस पर नित्यानन्द स्वामी कहने लगे, 'महाराज ! आप गप्पें ज़्यों मार रहे हैं ? एक ओर तो आप स्वस्थ नहीं है दूसरी ओर आप सालेमाळ पर्वत जाना चाहते हैं !'

महाराज ने विनोद को समझा और सालेमाळ पर्वत पर जाने का विचार छोड़ दिया ।

उन्होंने उज़र दिया, 'ठीक है, जिसमें तुम प्रसन्न रहो वही करूँगा ।' इसके बाद नित्यानन्द स्वामी अपने ठहरने के स्थान पर आ गये ।

इस पृथ्वी पर विचरण के अन्तिम चरण में श्रीजीमहाराज ने वरताल के आचार्य रघुवीरजी महाराज का हाथ लेकर नित्यानन्द स्वामी के हाथ में सौंपकर कहा, 'स्वामी ! आप हमेशा वरताल गद्दी के पक्ष में रहना और इसकी प्रतिष्ठा बढ़ाना ।'

श्रीजीमहाराज के स्वधाम पधार जाने के पश्चात् अहमदाबाद में एक घटना घटी । विभिन्न सज़्प्रदायों के पंडित अहमदाबाद में एक-जुट हुए और निश्चय किया कि शास्त्रार्थ में स्वामिनारायण के विद्वानों को हराएँगे । नित्यानन्द स्वामी उस समय वड़ोदरा में थे ।

वड़ोदरा के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ के राजपंडित अहमदाबाद में शास्त्रार्थ में भाग लेने की अनुमति लेने के लिए महाराजा के पास गये । सयाजीराव ने उनसे कहा, 'तुज़्हारा पाला वहाँ नित्यानन्द स्वामी से पड़ेगा, ज़्या तुमने यह सोचा है ?'

पंडितों ने उज़र दिया, 'नित्यानन्द स्वामी इस शास्त्रार्थ में भाग लेने नहीं

जा रहे हैं । अहमदाबाद के आचार्य श्री अयोध्याप्रसाद महाराज ने वरताल क्षेत्र के किसी विद्वान को नहीं बुलाया है । उन्होंने इस शास्त्रार्थ को अपने ही अहमदाबाद क्षेत्र तक के लिए सीमित कर दिया है । सबसे बड़ी बात तो यह है कि नित्यानन्द स्वामी तो यहाँ वड़ोदरा में हैं ।'

सयाजीराव उनके शज़्दों का मर्म समझ गये और शास्त्रार्थ में भाग लेने की अनुमति दे दी, किन्तु पंडितों से बोले, 'यदि तुम शास्त्रार्थ में हार गये तो वर्षासन (पेंशन) बन्द कर दूँगा ।'

इसके तुरन्त बाद, सयाजीराव ने नित्यानन्द स्वामी को संदेश भिजवाया । वे उस समय स्थानीय स्वामिनारायण मन्दिर में ठहरे हुए थे । 'आप तुरन्त अहमदाबाद जाओ । मैं राजसी सवारी आपके लिए भेज रहा हूँ ।'

किन्तु वरताल के आचार्य रघुवीरजी महाराज की औपचारिक अनुमति के बिना उनका अहमदाबाद शास्त्रार्थ में भाग लेना सज़्भव नहीं था । इसलिए सयाजीराव ने वरताल के आचार्य श्री रघुवीरजी महाराज को तुरन्त एक विनतीपत्र लिखा कि नित्यानन्द स्वामी को अहमदाबाद भिजवाइए । महाराजा की प्रार्थना पर आचार्य महाराज ने तुरन्त नित्यानन्द स्वामी को अहमदाबाद जाने के लिए सन्देशा भेजा ।

नित्यानन्द स्वामी सात गाड़ियों में शास्त्रों को भरकर अहमदाबाद पहुँचे । उनका शरीर बहुत स्थूल था, अत: एक गाड़ी में तो वे ही आये । उनके शिष्य भी साथ थे ।

अहमदाबाद के पंडितों ने सोचा था कि नित्यानन्द के न होने पर शास्त्रार्थ में वे निश्चित रूप से जीत जाएँगे, किन्तु जब उन्होंने नित्यानन्द स्वामी को सभा में बैठे देखा तो उनके होश उड़ गये । शास्त्रार्थ में जीतने की आशा उन्होंने छोड़ दी । ऐसी प्रतिभा के धनी थे नित्यानन्द स्वामी ।

सभा में जितने भी प्रश्न किये गये उनके उज़र नित्यानन्द स्वामी के एक सन्त शिष्य ने दिये । उपस्थित विद्वानों के मुख से निकल गया, 'सस्से (खरगोश) का शिकार करने का आयोजन किया गया था, लेकिन उसके स्थान पर निकल आया शेर । अब ज़्या लड़ें ?'

इस तरह ऐसे अनेक अवसरों पर नित्यानन्द स्वामी ने शास्त्रार्थ-बल से विद्वानों के समक्ष स्वामिनारायण सज़्प्रदाय का गौरव बढ़ाया ।

नित्यानन्द स्वामी ने बहुत सारे शास्त्रों की रचना की है । श्रीजीमहाराज की परावाणी 'वचनामृत' ग्रंथ का सज़्पादन करने में इनका मुज़्य सहयोग है ।

महाराज के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर सज़्प्रदाय को दृढ़ करने के लिए महाराज की आज्ञा से उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की ।

श्रीजीमहाराज द्वारा उपयोग में लाई गई वस्तुओं को, प्रसादी वस्तुओं के रूप में सुरक्षित संग्रह करने के लिए नित्यानन्द स्वामी ने ही आचार्य महाराज को सुझाव दिया था । तत्पश्चात् आचार्य महाराज ने ऐसी पवित्र वस्तुओं को संगृहीत किया और उन्हें स्थायी प्रदर्शनी के रूप में सजाया । आज भी हम मन्दिर में सुरक्षित रखी प्रसादी वस्तुओं का दर्शन कर सकते हैं ।

लक्ष्मीवाड़ी, गढ़ड़ा में श्रीजीमहाराज का अन्तिम संस्कार किया गया था, उस स्थल पर मन्दिर बनवाने में नित्यानन्द स्वामी ने गहरी रूचि ली ।

श्रीजीमहाराज की आज्ञानुसार वे प्रतिवर्ष एक महीने के लिए अक्षरब्रह्म श्री गुणातीतानन्द स्वामी का संग करते थे । विषयखंडन और स्वरूपनिष्ठा के बारे में स्वामी की अमूल्य बातें सुनकर नित्यानन्द स्वामी कहा करते थे, 'निष्कुलानन्द स्वामी कीर्तनों की रचना करके विषयों से आसज़्ति छुड़ा देते हैं और गुणातीतानन्द स्वामी वही काम अपनी ज्ञानमयी बातों से करते हैं । उन्हें शास्त्र की सीमाएँ बाधा नहीं पहुँचातीं ।'

संवत १९०८ (सन् १८५२) मार्गशीर्ष, शुज़्ला अष्टमी के दिन आचार्य रघुवीरजी महाराज, गोपालानन्द स्वामी, शुकमुनि, शून्यातीतानन्दजी आदि सन्तों के देखते-देखते उन्होंने अपनी नश्वर देह वरताल में छोड़ दी ।

इस तरह जीवन के अन्त तक उन्होंने सज़्प्रदाय की सेवा की, श्रीजीमहाराज की आज्ञा का यथार्थ रूप से पालन किया । उनके कार्य को पूरा कर वे अपने इष्टदेव की सेवा करने अक्षरधाम लौट गये ।

महाराज ने स्वयं गढ़डा अंत्यप्रकरण के २४वें वचनामृत में सद्गुरु नित्यानन्द स्वामी की प्रशंसा की है : 'नित्यानन्द स्वामी का हमें प्रसन्न करने का अंग है ।'[२] और सर्वमंगल स्तोत्र में कहे अनुसार प्रत्येक उन्हें 'निशानित्य कथादर' नामोच्चार से स्मरण करता है ।

२. आध्यात्मिक मार्ग में प्रगति करते हुए भज़्त को जिस गुण में विशेष रुचि रहती है उसे 'अंग' कहते हैं ।

उनकी रचनाएँ निज़्न हैं :

संस्कृत : हरिदिग्विजयः, हरिकवच, श्रीहनुमत्कवचम्, शांडिल्यसूत्र-भाष्यम् ।

प्राकृत : भागवत दशम स्कंध पूर्वार्ध, भागवत पंचम स्कंध, विदुरनीति, भगवद्गीता, वैकुण्ठ दर्शन, कपिल गीता, गुण विभाग, अवतार चरित्र, नारायण कवच, निष्काम शुद्धि, शिक्षापत्री-टीका ।

सद्‌गुरु प्रेमानन्द स्वामी

प्रेमसखी प्रेमानन्द स्वामी

प्रेमानन्द स्वामी का जन्म संवत् १८४० (सन् १७८४) के लगभग नड़ियाद के निकट के एक गाँव[३] में साठोदरा नागर ब्राह्मण परिवार में हुआ था । उनकी माता बहुत रूपवती थीं, किन्तु उनके पिता को लोगों ने पागल माना था । उनका जन्म होने पर, लोगों ने उनकी माता को कोसना प्रारज़्भ कर दिया । लोग कहते थे कि यह बच्चा किसी दूसरे का है, इसलिए या तो माँ इस बच्चे को त्याग दे या जान से मार दे । यह बच्चा परिवार में नहीं रह सकता । इन सब बातों से माता बहुत दु:खी थीं । एक दिन बहुत सवेरे माता बच्चे को लेकर घर से बाहर निकली और जंगल में एक पेड़ की खोह में रख आई ।

थोड़ी देर बाद उधर से एक धुनकिया निकला । उसने पेड़ की खोह में बच्चे के रोने का शज़्द सुना । उसने बच्चे को उठा लिया । बच्चे को उठाते ही उसके मन में विचार आया कि मेरे कोई सन्तान नहीं है, यह बच्चा भगवान ने मुझे दिया है । उसके आनन्द की सीमा न रही । वहीं से वह घर लौटा और बच्चे को अपनी पत्नी की गोद में डालकर बोला, 'देखो, भगवान ने यह बच्चा हमें दिया है ।'

दस-ग्यारह वर्ष बाद यह धुनकिया इस बच्चे के साथ किसी काम से जेतपुर गया । इस बच्चे की आयु भी अब दस-ग्यारह वर्ष की हो चुकी थी । जेतपुर में रामानन्द स्वामी अपने सज़्प्रदाय की धर्मधुरा सहजानन्द स्वामी को सौंप रहे थे । इस कारण से एक बड़ा उत्सव मनाया जा रहा था । विभिन्न स्थानों से हजारों हरिभज़्त पधारे हुए थे । इस उत्सव को देखकर धुनकिया ने अपने भाग्य को धन्य माना । वह भी अपने पुत्र के साथ उत्सव को देखने लगा । उत्सव के दिन सहजानन्द स्वामी घोड़े के ऊपर बैठे । और गाजे-बाजे के साथ गाँव में नगरयात्रा निकली । नगरयात्रा देखते-देखते

३. कुछ लोगों की मान्यता है कि उनका जन्म भरौंच के निकट दोरा गाँव में हुआ था ।

धुनकिया की उँगली उसके बेटे ने कब छोड़ दी उसे पता ही नहीं चला । वह बच्चा भीड़ को पार करता हुआ सहजानन्द स्वामी के घोड़े के पास आ गया । घोड़े का रकाब पकड़कर चलने लगा । किसी ने उसे रोका-टोका नहीं । वह ऐसे चल रहा था कि मानों उसकी जन्म-जन्म की पहचान हो । श्रीजीमहाराज ने उस बालक को घोड़े का रकाब पकड़े-पकड़े साथ चलते देख लिया था ।

उन्नड खाचर के दरबार में, जहाँ रामानन्द स्वामी का आश्रम भी था, नगरयात्रा वहाँ पहुँच कर समाप्त हो गई । सहजानन्द स्वामी घोड़े से उतरकर सीधे आश्रम के अन्दर चले गये । वह बालक इतना थक गया था कि वह सीढ़ियों पर बैठते ही सो गया । कुछ समय पश्चात् महाराज को उस बालक की स्मृति आई । वे तुरन्त बाहर आये, देखा कि वह तो सीढ़ी पर सो रहा है । महाराज ने उसके मस्तक पर हाथ रखा और प्रेम से जगाया और कहा कि चल भोजन कर ले । लड़के ने भोजन किया और पानी पिया ।

इतने में धुनकिया कुछ सज़्बन्धियों के साथ पुत्र को ढूँढ़ता हुआ वहाँ आ गया । उसने महाराज से कहा, 'यह बालक मेरा है, मैं इसे घर ले जा रहा हूँ ।'

महाराज ने तो कह दिया ले जाओ, परन्तु बच्चे ने जाने से दृढ़तापूर्वक मना कर दिया । हारकर वह धुनकिया यह सोचता हुआ छोड़कर चला गया 'यह अपना तो था ही नहीं ।'

तत्पश्चात् महाराज ने लड़के से कहा : 'तेरा ज़्या विचार है ?'

बच्चे ने कहा : 'महाराज ! मैं आपके पास रहूँगा ।'

सर्वज्ञ महाराज उसके पिछले सब जन्मों और कर्मों के विषय में जानते थे । महाराज ने उस लड़के को अपना आश्रित बनाकर रख लिया ।

महाराज ने उससे कहा : 'अभी तो तुम उज्जैन जाओ । क्षिप्रा नदी के उस पार एक संगीत विद्यालय है । तुम वहाँ जाओ और संगीत सीखो । जब संगीत में प्रवीण हो जाओ, तब इस क्षेत्र में आकर मुझसे मिलना ।'

महाराज की आज्ञा से वह विद्यालय में पहुँच गया । आचार्य ने आने का कारण पूछा । उस बालक ने श्रीजीमहाराज का परिचय देकर कहा कि उनकी आज्ञा से संगीत सीखने आया हूँ । आचार्य सब कुछ समझ गये और उस बालक को अपनी सेवा में रख लिया और संगीत भी सिखाने लगे ।

महाराज की कृपा से उस किशोर के पूर्व संस्कार फलित हो गये और कुछ ही वर्षों में वह गान और वाद्य संगीत में पारंगत हो गया । एक दिन उसके हृदय में महाराज की मूर्ति का स्फुरण हुआ । उसके लिये अब वहाँ रुकना कठिन हो गया । अपने अन्तर में मूर्ति का दर्शन करता हुआ वह सीधा उज्जैन से गढ़पुर महाराज के पास पहुँचा ।

महाराज ने उसे तुरन्त पहचान लिया और प्रेम से उसका आलिंगन किया । महाराज ने कुछ समय तक उसे अपने पास रखा और उसे संवत् १८७० (सन् १८१४) के आसपास त्यागी की दीक्षा देकर 'निजबोधानन्द' नाम रखा । महाराज की आज्ञा से उन्होंने थोड़ी संस्कृत भी सीखी ।

एक बार महाराज ने उन्हें अपने पास बुलाया और पद्यरचना करने के लिए कहा । यद्यपि उन्होंने छन्दशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, किन्तु महाराज की इच्छा और कृपा से कीर्तन के पद रच रचकर वे गाने लगे । महाराज के सज़्पूर्ण अंगों को उन्होंने भावपूर्ण नेत्रों से निहारा और महाराज की मूर्ति का सुन्दर सरस वर्णन कीर्तन-पद में किया । महाराज उनकी प्रथम रचना से प्रसन्न हो गये । पद के अन्त में कवि प्राय: अपना नाम रखते हैं, परन्तु निजबोधानन्द नाम इतना बड़ा था कि वह लय या प्रास में ठीक नहीं बैठता था । महाराज ने विचार किया कि ब्रह्मानंद, मुज़्तानंद और निष्कुलानंद जैसा प्रासमय नाम दें । उनको 'प्रेमानंद' नाम सूझा जो पद्य में प्रासमय ध्वनि करेगा । तब महाराज ने कहा, अब से मैं तुज़्हारा नाम बदल कर 'प्रेमानन्द' रखता हूँ ।

एकबार प्रेमानन्द ने भगवान कृष्ण की एक गोपी-चन्द्रसखी का चित्रण एक पद में किया । महाराज उनकी प्रेमलक्षणा भज़्ति से बहुत प्रसन्न हुए और उनका नाम 'प्रेमसखी' भी रख दिया । तब से आज्ञा की कि दोनों नामों का उपयोग कर पद रचना करो ।

एक बार आषाढ़ मास की नियम की एकादशी को महाराज सबको चातुर्मास का विशेष नियम दे रहे थे । उन्होंने प्रेमानन्द स्वामी से पूछा कि 'तुज़्हें ज़्या नियम दूँ ?'

प्रेमानन्द स्वामी ने खड़े होकर कहा, 'प्रतिदिन आपकी मूर्ति के आठ पद रचने का नियम लेता हूँ, जब तक आठ पूरे नहीं कर लिया करूँगा, भोजन नहीं करूँगा ।' उनके ऐसे कड़े नियम से महाराज बड़े प्रसन्न हुए ।

तब से कीर्तनों की निर्झरनी बहने लगी । उस भज़्ति-गंगा के पवित्र जल में हरिभज़्तों की मण्डलियाँ स्नान करने लगीं । प्रेमानन्द स्वामी ने महाराज को प्रत्यक्ष पुरुषोज़म के रूप में अपने कीर्तन-पदों में चित्रित किया है । इतने अधिक भाव और मधुर वाणी में गाया है कि भज़्तिरस और प्रेम का माधुर्य टपकता है । श्रीजीमहाराज के प्रत्येक अंग का, रोम रोम का इतना सजीव वर्णन किया है कि उनकी वाणी में से प्रेमरस कभी सूखता ही नहीं है । विभिन्न पदों में कथ्य विषय तो एक ही है, किन्तु उनकी विशेषता है कि प्रत्येक पद जीवन्त है । हर पद में नई अनोखी छटा है, पदों में महाराज के प्रति भज़्ति बढ़ती हुई गोचर होती है । महाराज की मनुष्यलीला का गान करते समय उनका दिव्य भाव महाराज की मानुषी लीला के साथ तादात्ज़्य धारण कर लेता है । ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य की यह निर्झरनी उनके हृदय से निकल रही है जिसमें श्रोता डूब रहा है ।

एक बार एक देवी का भज़्त महाराज के पास आया और अपनी देवी की प्रशंसा में उसने भजन सुनाया । महाराज ने संतों से कहा : 'अहा ! इसकी देवी के प्रति कितनी आस्था और श्रद्धा है !' यह सुनकर प्रेमानन्द स्वामी खड़े हो गये और महाराज की मूर्ति निहारते निहारते नई रचना कर डाली :

'वन्दु सहजानन्द रसरूप, अनुपम सारने रे लोल;
जेने भजतां छूटे फंद, करे भव पारने रे लोल ।'

इस पद को सुनकर महाराज स्वयं झूमने लगे । सारी सभा स्तज़्ध रह गई । इस तरह प्रेमानन्द स्वामी ने आठ पद पूरे किये । प्रेमानन्द स्वामी की भज़्ति पर प्रसन्न होकर महाराज ने कहा : 'बहुत अच्छा कीर्तन गाया । इस कीर्तन को सुनने के बाद हमारे मन में यह विचार आया है कि जिनमें इतनी अधिक भज़्ति है और भगवान की मूर्ति का चिन्तन है उनको तो हमें साष्टांग दण्डवत् करना चाहिए, वे इसी योग्य हैं । इन पदों में जिस ढंग से इन्होंने गाया है यदि उस रीति से कोई परमात्मा का ध्यान करे तो वह काल, कर्म और माया के बन्धन से स्वयं को मुज़्त कर सकता है ।'

जैसी प्रेमानन्द स्वामी की महाराज के प्रति छलकती प्रेमलक्षणा भज़्ति थी उसी प्रकार महाराज की भी उनके ऊपर कृपा थी । प्रेमानन्द प्रेमसखी के मधुरकंठ से स्नेहमयी भज़्तिपूर्ण कीर्तनों को सुनने के लिए महाराज हमेशा

लालायित रहते थे ।

एक बार जाड़ों में पिछली रात के समय प्रेमानन्द स्वामी ने अपनी सारंगी के सूर छेड़े । रात्रि की स्थिर वायु में कीर्तनों के स्वरों की माला बन गई । महाराज की महिमा के कीर्तनों के स्वर अक्षर ओरड़ी में महाराज के कान तक पहुँचे । महाराज जाग गये, कड़ाके की ठंड में भी उठे और धीरे-धीरे चलकर प्रेमानन्द स्वामी के पीछे आकर खड़े हो गये और पूर्ण एकाग्रता और तन्मयता से गायन सुनने लगे । प्रेमानन्द स्वामी महाराज की मूर्ति से एक होकर एक के बाद दूसरा पद गाते चले गये । भोर का तारा ऊपर चढ़ने पर प्रेमानन्द स्वामी ने सारंगी नीचे रखी और महाराज को मानसिक वन्दन किया ।

इतने में महाराज का स्नेहिल स्वर भी उन्हें सुनाई दिया : 'प्रेमसखी !' भावविभोर प्रेमानन्द स्वामी पीछे मुड़े और महाराज के चरणों में अपना शीश रख दिया : 'दीनानाथ ! इस समय आप यहाँ कैसे ?' प्रेमानन्द स्वामी ने पूछा ।

तुज़्हारी कीर्तन की भावविभोर स्वरमाधुरी मुझे आधी रात में यहाँ खींच लाई । हम तो यहीं खड़े हैं । अभी भी ऐसी इच्छा हो रही है कि सुनता ही रहूँ ।'

महाराज की प्रशंसा भरी वाणी सुनकर प्रेमानन्द स्वामी गद्‌गद हो गये । दुबारा महाराज के चरणों में सिर रखा । महाराज ने अपना वरद हस्त उनके सिर पर रखा ।

प्रेमानन्द स्वामी की भज़्ति और काव्य-शज़्ति की महाराज बहुत प्रशंसा करते थे । अनेक प्रकार से उनको अपनी कृपा प्रसादी देते थे । एक बार महाराज कच्छ में बहुत से सन्तों के साथ पधारे । नगरयात्रा में महाराज ने अपना हाथ प्रेमानन्द स्वामी के कन्धे पर रखा और उनको भी वैसा ही करने को कहा । एक-दूसरे के कन्धे पर हाथ रखे, कीर्तन करते वे भूज के बाजार से निकले । एक पंज़्ति प्रेमानन्द स्वामी गाते और अगली पंज़्ति महाराज स्वयं गाते । ऐसी दिव्यलीला करके महाराज ने उन्हें अलौकिक लाभ दिया था ।

एक बार प्रेमानन्द स्वामी जूनागढ़ के स्वामिनारायण मन्दिर में कीर्तन गा रहे थे । जूनागढ़ के नवाब वहाँ आ पहुँचे । प्रेमानन्द स्वामी का संगीत सुनकर नवाब को ऐसा लगा कि यह किसी इन्सान के गले की आवाज़ नहीं

है, यह तो आत्मिक (रूहानी) संगीत है । नवाब ने प्रेमानन्द स्वामी से कहा भी, 'मैंने ऐसा रूहानी संगीत कभी नहीं सुना ।'

इस घटना के कुछ समय बीत जाने पर ध्रुवपद राग गानेवाले ग्वालियर के गवैये जूनागढ़ नवाब को संगीत सुनाने आये । परन्तु नवाब ने उनसे कहा : 'स्वामिनारायण के साधु प्रेमानन्द का संगीत सुनने के पश्चात् और किसी का संगीत सुनने का मन नहीं होता ।' इसलिए वे गवैये गढ़पुर आये । दोपहर का समय था, महाराज की सभा समाप्त होनेवाली थी, किन्तु गवैयों ने प्रेमानन्द स्वामी का संगीत सुनने की इच्छा व्यज़्त की । उस समय महाराज ने प्रेमानन्द स्वामी को गाने की आज्ञा दी । श्रीजीमहाराज ने उनसे भैरवी राग गाने को कहा । प्रेमानन्द स्वामी ने भैरवी राग का आलाप किया । परन्तु गवैये तो इस बात पर मन ही मन हँसने लगे कि सुबह को गाया जाने वाला राग ये इस समय गा रहे हैं, पागल लगते हैं । वे यह सब सोच ही रहे थे कि आलाप के प्रभाव से, प्रकृति के स्वभाव में परिवर्तन हो गया । लोगों को दोपहर के समय प्रभात का अनुभव हुआ ! भैरवी के मधुर स्वरों ने दोपहर को शीतल सुरभित मंद पवन चला दी, पक्षी चहचहाने लगे । गवैये प्रेमानन्द स्वामी की अद्‌भुत संगीत सुरावली पर मुग्ध हो गये । उन्हें आज पता चला कि भैरवी में इतनी शज़्ति है । महाराज सच्चे हैं और हमारा हँसना मूर्खता का द्योतक है । गवैये तो प्रेमानन्द स्वामी का गुणगान कर रहे थे । किन्तु प्रेमानन्द स्वामी ने कहा कि सारे गुण मालिक के हैं, जैसी प्रेरणा वे देते हैं मैं गाता हूँ ।

एक समय श्रीजीमहाराज आरती करके वासुदेवनारायण के कमरे में आये । यहाँ लाडुबा और जीवुबा ने महाराज से प्रश्न पूछा : 'महाराज ! आपने हमारे पिता को भगवान कृष्ण के रूप में दर्शन दिये थे । भगवान कृष्ण तो गोलोक के स्वामी हैं, जबकि आप अक्षरधाम के स्वामी हैं । हमें इस तथ्य को कैसे समझना चाहिए ?' उस समय महाराज ने उन्हें अपने पूर्ण पुरुषोज़म स्वरूप की अद्‌भुत बातें समझाईं । प्रेमानन्द स्वामी दूर बैठे इन सारी बातों को सुन रहे थे और उन्होंने महाराज की मूर्ति की महिमा के चार पदों की रचना कर डाली और उनमें सर्वोपरि स्वरूप को दर्शाया ।

'आज मारे ओरड़े रे, आव्या अविनाशी अलबेल...

और

'बोल्या श्रीहरि रे, सांभळो नरनारी हरिजन...'

इन पदों को सुनकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए ।

श्रीजीमहाराज नियमित रूप से अपनी प्रसादी का थाल प्रेमानन्द के लिए भिजवाते । किन्तु श्रीजीमहाराज के धाम चले जाने के पश्चात् प्रसादी का थाल मिलना बन्द हो गया । महाराज के विरह में चार-पाँच दिन तक प्रेमानन्द स्वामी ने अन्नजल ग्रहण नहीं किया, उन्हें किसी बात का कोई होश नहीं था । बाद में उन्होंने भोजन बनाना चाहा पर बना न सके । उन्हें महाराज की स्मृति हुई, उन्होंने अपना सरोद उठाया और गाने लगे :

'सजनी श्रीजी मुजने सांभरिया रे,
हैये हरख अति उभराय,
नेणे आंसुनी धारा वहे रे,
विरहे मनडुं व्याकुळ थाय...सजनी'

(हे सजनी ! मुझे श्रीजी की याद आ रही है, मेरे हृदय में प्रसन्नता उमड़ रही है, मेरे नेत्रों से आँसू बह रहे हैं । मेरा मन उनके विरह में व्याकुल हो रहा है ।)

दादाखाचर ने जब यह पद सुना, वे प्रेमानन्द स्वामी के पास दौड़े आये । वे भी पद में अभिव्यज़्त व्यथा को सहन नहीं कर सके । उन्होंने प्रेमानन्द स्वामी से प्रार्थना की, 'ओ स्वामी ! बस करो, बस करो । इस पद को मत गाओ ।' बाद में उन्हें पता चला कि स्वामी तो चार-पाँच दिन से भूखे हैं । महाराज ने लाडूबा और जीवुबा से कहा था कि प्रेमानन्द स्वामी को ठाकुरजी की प्रसादी का थाल नित्य भेजा करना । किन्तु किन्ही कारणों से वह व्यवहार निभा नहीं । तब दादाखाचर ने थाल (भोजन) की व्यवस्था की ।

महाराज का वियोग प्रेमसखी प्रेमानन्द के लिए असह्य था । मंगल आरती के पश्चात् वे प्रतिदिन गोपीनाथजी की मूर्ति के सामने वे कीर्तन गाते । राजभोग की आरती तक वे निरन्तर गाते ही रहते और नाच-नाचकर महाराज को रिझाते । गोपीनाथजी प्रतिदिन मूर्ति में से साक्षात् प्रकट होकर प्रेमानन्द स्वामी को अपने हाथों से हार पहनाते ।

प्रेमानन्द के काव्य से महाराज अत्यन्त प्रसन्न थे । वे हमेशा उन्हें

मुक्तानन्द, ब्रह्मानन्द और निष्कुलानन्द जैसे अग्रगण्य कवि सन्तों की कक्षा में मानते थे । प्रात:काल में प्रभाती से लेकर आरती, प्रार्थना, गोड़ी, चेष्टा (शयन के समय तक की) आदि में महाराज की स्मृति करानेवाले उज़म काव्यपदों की रचना कर वे सज़्प्रदाय को नित्य नियम में उपयोग करने के लिए सौंप गये हैं ।

श्रीजीमहाराज ने संगीत को भक्ति-तज़्व के पोषक के रूप में खूब अपनाया था । जब कभी विशाल धार्मिक सभा होती या जब महाराज राजा -महाराजाओं की सभा में जाते उस समय प्रेमानन्द स्वामी, मुक्तानन्द स्वामी, देवानन्द स्वामी, ब्रह्मानन्द स्वामी आदि के द्वारा अलौकिक आत्मिक भजनों के द्वारा वातावरण को चेतन बनाया करते थे । ये लोग अपनी ही रचनाओं को वाद्य यंत्रों - जैसे, दुज़्कड, सरोद और सारंगी के साथ-साथ गाते थे । वे अपने बोल और संगीत के द्वारा ऐसा समा बाँधते थे कि महान संगीत विशारद उनको सुनकर दंग रह जाते थे ।

श्रीजीमहाराज के स्वधामगमन के पश्चात् प्रेमानन्द स्वामी की रचनाओं में भक्ति की विरहवेदना का चित्रण बहुत सशक्त भाषा में हुआ है । संवत् १९११ (सन् १८५५) मागशर शुक्ल एकम के दिन उनका महाराज से विरह समाप्त हुआ और श्रीजीमहाराज के सान्निध्य में प्रेमानन्द स्वामी अक्षरधाम पहुँच गये ।

प्रेमसखी के ग्रन्थों में मुख्य हैं : ध्यानमंजरी, नारायणचरित्र, तुलसीविवाह, गोपीविरह, श्रीहरिचरित्र और लगभग चौदह हजार अन्य पद । लगभग चार हजार पद अभी मिलते हैं । गुजराती भाषा के अतिरिक्त उनके पद हिन्दी और ब्रजभाषा में भी मिले हैं । इनके द्वारा रचित पद संगीत-साहित्य में अमूल्य हैं ।

श्रीजीमहाराज की महिमा और उत्तम आदेश वर्णन युक्त प्रेमानन्द स्वामी की काव्यप्रसादी

पद-१ राग गरबी

आज मारे ओरड़े रे, आव्या अविनाशी अलबेल,
बाई में बोलाविया रे, सुंदर छोगावाळो छेल ॥१॥

नीरज़्यां नेणां भरी रे, नटवर सुंदर श्री घनश्याम,
शोभा शी कहुं रे, नीरखी लाजे कोटिक काम ॥२॥

गूंथी गुलाबना रे, कंठे आरोप्या में हार,
लईने वारणा रे, चरणे लागी वारंवार ॥३॥

आप्यो में तो आदरे रे, बेसवा चाकळियो करी प्यार,
पूछ्या प्रीतशुं रे, बाई में सर्वे समाचार ॥४॥

कहो ने हरि ज़्यां हता रे, ज़्यां थकी आव्या धर्मकुमार,
सुंदर शोभता रे, अंगे सजिया छे शणगार ॥५॥

पहेरी प्रीतशुं रे, सुरंगी सूथणली सुखदेण,
नाड़ी हीरनी रे, जोतां तृप्त न थाये नेण ॥६॥

ऊपर ओढ़ियो रे, गूढ़ो रेंटो जोया लाग,
सजनी ते समे रे, धन्य धन्य नीरज़्या तेनां भाग्य ॥७॥

मस्तक ऊपरे रे, बांध्युं मोळीडुं अमूल्य,
कोटिक रवि शशी रे, ते तो नावे तेने तुल्य ॥८॥

रेशमी कोरनो रे, करमां साह्यो छे रूमाल,
प्रेमानन्द तो रे, ए छबी नीरखी थयो निहाल ॥९॥

पद-२

सजनी सांभळो रे, शोभा वर्णवुं तेनी तेह,
मूर्ति संभारतां रे, मुजने ऊपज्यो अति स्नेह ॥१॥

पहेर्यां ते५ समे रे, हरिए अंगे अलंकार,
जेवा में नीरज़्या रे, तेवा वर्णवुं करीने प्यार ॥२॥

बरास कपूरना रे, पहेर्या हैड़े सुंदर हार,
तोरा पाघमां रे, ते पर मधुकर करे गुंजार ॥ ३ ॥

बाजु बेरखा रे, बांह्ये कपूरना शोभित,
कडां कपूरनां रे, जोतां चोरे सहुनां चिज़ ॥ ४ ॥

सरवे अंगमां रे, ऊठे अज़रनी बहु फोर,
चोरे चिज़ने रे, हसतां कमळ-नयननी कोर ॥ ५ ॥

हसतां हेतमां रे, सौने देतां सुख आनंद,
रसरूप मूरति रे, श्रीहरि केवल करुणाकंद ॥ ६ ॥

अद्‌भुत उपमा रे, कहेतां शेष न पामे पार,
धरीने मूरति रे, जाणे आव्यो रस शृंगार ॥ ७ ॥

वालप वेणमां रे, नेणां करुणामां भरपूर,
अंगो अंगमां रे, जाणीये उगिया अगणित सूर ॥ ८ ॥

करतां वातडी रे, बोली अमृत सरखां वेण,
प्रेमानन्दनां रे, जोतां तृप्त न थाये नेण ॥ ९ ॥

पद-३

बोल्या श्रीहरि रे, सांभळो नरनारी हरिजन,
मारे एक वारता रे, सौने संभळाव्यानुं छे मन ॥ १ ॥

मारी मूरति रे, मारा लोक भोग ने मुज़्त,
सर्वे दिव्य छे रे, त्यां तो जोयानी छे जुज़्त ॥ २ ॥

मारुं धाम छे रे, अक्षर अमृत जेनुं नाम,
सर्वे साम्रथी रे, शज़्ति गुणे करी अभिराम ॥ ३ ॥

अति तेजोमय रे, रवि-शशी कोटिक वारणे जाय,
शीतळ शान्त छे रे, तेजनी उपमा नव देवाय ॥ ४ ॥

तेमां हुं रहुं रे, द्विभुज दिव्य सदा साकार,
दुर्लभ देवने रे, मारो कोई न पामे पार ॥ ५ ॥

जीव ईश्वर तणो रे, माया काळ पुरुष प्रधान,
सौने वश करुं रे, सौनो प्रेरक हुं भगवान ॥ ६ ॥

अगणित विश्वनी रे, उत्पज़ि पालन प्रलय थाय,
मारी मरजी विना रे, कोईथी तरणुं नव तोड़ाय ॥ ७ ॥

एम मुने जाणजो रे, मारा आश्रित सौ नरनारी,
में तम आगळे रे, वार्ता सत्य कही छे मारी ॥ ८ ॥

हुं तो तम कारणे रे, आव्यो धाम थकी धरी देह,
प्रेमानंदनो रे, वहालो वर्ष्या अमृतमेह ॥ ९ ॥

पद-४

वळी सौ सांभळो रे, मारी वार्ता परम अनुप,
परम सिद्धांत छे रे, सौने हितकारी सुखरूप ॥ १ ॥

सौ हरिभज़्तने रे, जावुं होये मारे धाम,
तो मुने सेवजो रे, तमे शुद्ध भावे थई निष्काम ॥ २ ॥

सौ हरिभज़्तने रे, रहेवुं होये मारे पास,
तो तमे मेलजो रे, मिथ्या पंच विषयनी आश ॥ ३ ॥

मुज विना जाणजो रे, बीजा मायिक सौ आकार,
प्रीति तोड़जो रे, जूठां जाणी कुटुंब परिवार ॥ ४ ॥

सौ तमे पाळजो रे, सर्वे दृढ़ करी मारा नेम,
तम पर रीझशे रे, धर्म ने भज़्ति करशे क्षेम ॥ ५ ॥

संत हरिभज़्तने रे, दीधो शिक्षानो उपदेश,
लटकां हाथनां रे, करतां शोभे नटवरवेश ॥ ६ ॥

निजजन ऊपरे रे, अमृत वर्ष्या आनंदकंद,
जेम सौ औषधि रे, प्रीते पोषे पूरणचंद्र ॥ ७ ॥

शोभे संतमां रे, जेम कांई उडुगणमां उडुराज,
ईश्वर उदे थया रे, कळिमां करवा जननां काज ॥ ८ ॥

आ पद शीखशे रे, गाशे सांभळशे करी प्यार,
प्रेमानंदनो रे, स्वामी लेशे तेनी सार ॥ ९ ॥

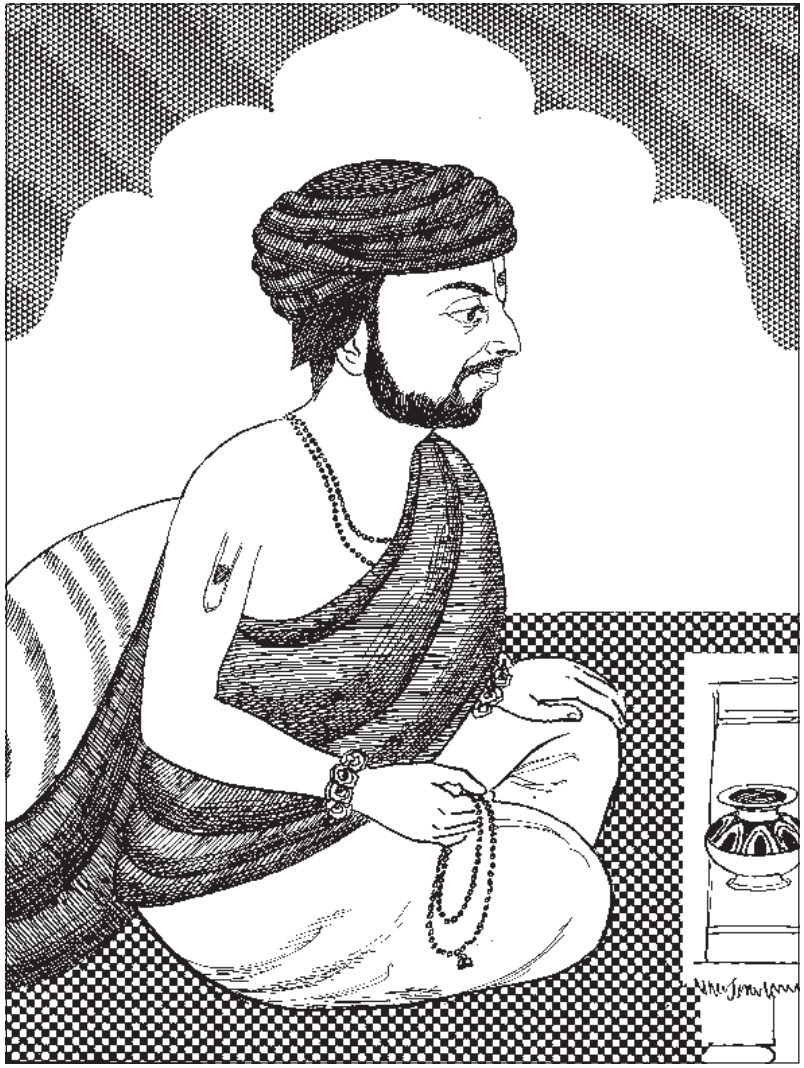

मुकुन्दानन्द वर्णी

मुकुन्दानन्द वर्णी (मूलजी ब्रह्मचारी)

शिक्षापत्री में 'मुकुन्दानन्दमुज़्याश्च' लिखकर श्रीजीमहाराज ने जिनको ब्रह्मचारियों में अग्रणी कहा है वे मुकुन्दानन्द वर्णी सत्संग में मूलजी ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हुए । वे हनुमानजी जैसे जति और नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे । श्रीजीमहाराज के लिए प्रात: दातुन तैयार करने से लेकर रात्रि को शयन करने तक पूरा ध्यान रखते हुए महाराज की सेवा करते थे । श्रीजीमहाराज के लिए भोजन बनाते, उनके भोजन करते समय पंखा झलते । महाराज पंज़्ति में बैठे लोगों को परोसते तो वे साथ में थाली लेकर पीछे पीछे चलते । महाराज की छाया बनकर रहते । जो हरिभज़्त थाल भेंट करते उनको याद रखते और उन्हें महाराज की प्रसादी देते । इन सभी सेवाओं को करते हुए भी मूलजी ब्रह्मचारी श्रीजीमहाराज से एकरस रहते थे ।

ऐसा प्रतीत होता था कि ये ब्रह्मचारी अक्षरधाम से ही महाराज की सेवा करने के लिए पधारे हैं । उनका जन्म सौराष्ट्र के मछियाव गाँव में वि.सं. १८२२ (सन् १७६६) में औदिच्य ब्राह्मण कुल में हुआ था । उनके पिता यजमानवृज़ि का काम कर पालनपोषण करते थे । मूलजीभाई भी अपने पिता की उनके कार्यों में सहायता करते थे ।

एक बार एक यजमान की पुत्री को उसकी ससुराल से पीहर पहुँचाने का काम उनके पिता ने मूलजी को सौंपा । ससुर ने मूलजीभाई के साथ अपनी पुत्रवधू को उसके पीहर जाने की अनुमति दे दी । रास्ते में एक स्थान पर रात को ठहरना पड़ गया । एक छोटे मकान में यजमान की कन्या के लिए सभी प्रबन्ध कर दिये । उसे अन्दर कमरे में सुलाकर आप बाहर चबूतरी पर सोये ।

एकान्त स्थल एवं रात का समय था । उस लड़की की कामाग्नि भड़की, कमरे का द्वार खोलकर मूलजीभाई के पास वह आई । उसकी हरकतों से मूलजीभाई की नींद खुल गई । वे तुरन्त उसका भाव ताड़ गये

और उससे बोले, 'बहिन ! डरो मत यहाँ कोई भय नहीं है, जाओ और शान्ति से सो जाओ ।'

यह सुनकर वह स्त्री लज्जित हो गई । वह अंदर तो गई, किन्तु उसका वेग शान्त न हुआ । फिर से दरवाजा खोलकर वह बाहर आई । मूलजीभाई चौंककर जाग गये । उसे शिक्षा के वचन कहे । इसके बाद मूलजीभाई सारी रात जागकर भजन करते रहे ।

इस प्रसंग से मूलजीभाई के अन्तर में जीवन के प्रति एक चिन्तन जागा । ऐसे जीवन की निस्सारता उनकी समझ में आई । मन ही मन उन्होंने भगवान की भज़्ति का निश्चय कर लिया : 'मैं जीवनभर ब्रह्मचारी रहकर भगवान का भजन करूँगा ।'

अपना यह निश्चय उन्होंने अपने पिता को उस समय सुनाया जब वे मूलजीभाई का विवाह करने की सोच रहे थे । सारे सज़्बन्धियों ने मिलकर मूलजीभाई को फुसलाना चाहा पर वे अडिग रहे ।

तीव्र वैराग्य के कारण मूलजीभाई ने घर छोड़ दिया और द्वारिका की तीर्थयात्रा पर निकल पड़े । चलते हुए वे लोज गाँव में पहुँचे । वहाँ वे रामानन्द स्वामी के सज़्पर्क में आये और उनके शिष्य बन गये । रामानन्द स्वामी ने उन्हें दीक्षा देकर मुकुन्दानन्द वर्णी नाम रखा ।

एक बार श्रीजीमहाराज वासुदेवनारायण के कमरे में सभा को सज़्बोधित कर रहे थे । महाराज ने यहाँ घोषणा की कि जो भी सोता पाया जाएगा उसे बेरखा (छोटी माला) मारकर जगाया जाएगा । मूलजी ब्रह्मचारी महाराज के बाजू में बैठे थे । वहाँ बैठे ब्रह्मचारी को सपना दिखाई दिया । सपने में वे महाराज के साथ किसी गाँव में गये, वहाँ एक मकान में आग लगी थी । सपने में ही उन्हें भय लगा कि महाराज आग में जल जाएँगे । अत: उन्होंने वास्तव में (सपने में नहीं) महाराज को सिंहासन सहित उठा लिया और नीम के पेड़ के नीचे सिंहासन सहित बैठा दिया । इससे सभा में बड़ा हो-हल्ला हुआ, उससे मूलजी ब्रह्मचारी की नींद खुल गई ।

श्रीजीमहाराज ने उनसे पूछा, 'तुज़्हें ज़्या हो गया था ?'

ब्रह्मचारी ने उज़र दिया, 'मुझे नींद आ गई थी, मैंने सपना देखा कि किसी गाँव में मकान जल रहा है । इसलिए मैंने आपको उठा लिया और

आपको इस नीम के पेड़ के नीचे सुरक्षित ले आया ।'

यह सुनकर महाराज ने संतों-हरिभज़्तों की सभा में कहा, 'ये ब्रह्मचारी ऊँघते दिखाई देते हैं, परन्तु जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में हमारा ही ध्यान करते हैं ।'

एकबार भादरा में महाराज ने मूलजी ब्रह्मचारी को अपनी जूतियों को तेल पिलाने के लिए कहा, 'तुम इस पर तेल चुपड़ दो । यह काम किसी और से मत करवाना ।'

महाराज की आज्ञा से वे जूतियों में तेल चुपड़ने लगे । उसी समय वशरामभाई वहाँ आ गये : 'आप तो महाराज की नित्य सेवा करते हैं । आज मुझे उनकी सेवा करने दो ।' ऐसा कहकर उन्होंने महाराज की जूतियाँ उनके हाथों से खींच लीं और तेल चुपड़ना आरज़्भ कर दिया ।

दैव-योग से तभी महाराज वहाँ आ गये । महाराज ने मूलजी की ओर देखकर कहा, 'ज़्या मैंने तुमसे यह नहीं कहा था कि यह काम किसी और से मत करवाना ? वशराम भज़्त को सेवा ज़्यों दी ?'

महाराज ने कुछ सोचकर कहा कि 'आज से तुज़्हें सेवा से मुज़्त करते हैं । तुम जूते नहीं पहनोगे और गुड़ जैसे मीठे और चिकने पदार्थ नहीं खाओगे ।' ब्रह्मचारी ने चुपचाप दण्ड स्वीकार कर लिया ।

तत्पश्चात् मूलजी ब्रह्मचारी डभाण आकर रामदासभाई के साथ रहने लगे। गर्मियों में डभाणिया आम पके । रामदासभाई ने डेढ़ मन आम छाँट छाँट कर महाराज के लिए एक टोकरे में भरे । परन्तु समस्या यह थी कि इन्हें महाराज के पास कौन ले जाए ? महाराज की सेवा का अवसर मिलते ही मूलजी ब्रह्मचारी ने कहा : 'टोकरा मुझे दो, मैं महाराज के पास ले जाऊँगा ।'

गर्मी की तपन में, नंगे पैर चलकर वे गढ़डा गये । पैरों में फफोले पड़ गये । श्रीजीमहाराज के सामने टोकरा रखा । पैरों को छूकर उन्होंने महाराज को 'जय स्वामिनारायण' कहा । महाराज ने मुँह फेर लिया और कोई उज़र भी नहीं दिया।

ब्रह्मचारी वहाँ से बाहर निकले । गाँव में से गुज़र रहे थे कि तभी उस गाँव की हरिभज़्त सुतारबाई ने ब्रह्मचारी को पहचान लिया । उसने पूछा, 'ब्रह्मचारी, आजकल आप दिखाई ज़्यों नहीं देते ?'

ब्रह्मचारी ने कहा : 'मुझे महाराज ने निकाल दिया है, मुझे अब अपने साथ नहीं रखते । देखो ! आज मैं कड़ी धूप में नंगे पैर डेढ़ मन आम का टोकरा सिर पर धरकर धुर डभाण से लाया । पर महाराज ने मेरे 'जय स्वामिनारायण' को भी स्वीकार नहीं किया । ठीक है, जैसी उनकी इच्छा ।'

बाई ब्रह्मचारी को अपने घर ले गई और उन्हें सीधा दे दिया, घी, गुड़, आटा आदि । ब्रह्मचारी ने केवल आटे की बाटी बनाकर खाई । न गुड़ लिया और न घी ।

बाई ने पूछा, 'ये घी, गुड़ ज़्यों रहने दिये ?'

ब्रह्मचारी ने कहा : 'महाराज ने घी, तेल, गुड़ आदि के मीठे चिकने पदार्थ खाने के लिए मना किया है ।'

बाई ने पूछा : 'कब से ?'

ब्रह्मचारी ने कहा : 'छः महीने से ।'

अब बाई ने कहा, 'चलिए, मेरे साथ महाराज के पास ।'

ब्रह्मचारी को साथ लेकर वह बाई महाराज के पास पहुँची । महाराज को उलाहना देते हुए बोली, 'महाराज ! आप ऐसे निर्दय ज़्यों हो गये हैं ? ये ब्रह्मचारी इतनी कड़ी धूप में, नंगे पैर साठ कोस धरती पार करके डेढ़ मन आम का टोकरा लाये और आपने उनका 'जय स्वामिनारायण' भी स्वीकार नहीं किया ।'

महाराज इस उलाहने से प्रसन्न हो गये । उन्होंने हँसकर कहा, 'मैं कहाँ मना करता हूँ, बुलाओ ब्रह्मचारी को ।'

यह सुनकर ब्रह्मचारी उसी क्षण से महाराज की सेवा में लग गये । उस दिन मूलजी ब्रह्मचारी ने महाराज को आमरस और रोटी बनाकर खिलाई । मूलजी ब्रह्मचारी श्रीजीमहाराज की अनन्त महिमा को समझते थे । श्रीजीमहाराज ने उन्हें बिना अपराध के सजा दी, विमुख किया, जूता पहनने, गुड़-घी तेल न खाने का नियम दिया किन्तु उनको तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ और महाराज में अखंड वृज़ि रखी और निरन्तर उनका भजन करते रहे । वे ऐसे संनिष्ठ सेवक थे । श्रीजीमहाराज के हृदयरूप इस ब्रह्मचारी को महाराज के सिवा अन्य किसी पर प्रतीति नहीं थी ।

श्रीजीमहाराज ने कहा था, 'ये मुकुंद ब्रह्मचारी हमारे स्वभाव को अच्छी

तरह जानते हैं । वे जानते हैं कि महाराज आकाश के समान निर्लेप हैं । उनके लिए कोई अपना या पराया नहीं है । इसके अतिरिज़्त मुकुन्द ब्रह्मचारी कभी संशयग्रस्त नहीं होते और इसलिए हम उसके बहुत निकट हैं । ये बहुत बुद्धिमान नहीं हैं, परन्तु हमें प्रसन्न करना जानते हैं ।'

महाराज ने मूलजी ब्रह्मचारी की प्रशंसा वचनामृत में की है । श्रीजीमहाराज हमेशा मूलजी ब्रह्मचारी की सेवा स्वीकार करते ज़्योंकि वे निष्ठावान ब्रह्मचारी थे । महाराज ने कहा था मुझे निष्कामी भज़्त के हाथ की सेवा अच्छी लगती है, अन्य की नहीं ।

मानसी पूजा के समय मूलजी ब्रह्मचारी का महाराज के साथ एकत्व स्थापित हो जाता था । मानसी के समय मूलजी ब्रह्मचारी महाराज से पूछते, 'ज़्या खाओगे ? भुजिया, पूरी, शाक या कुछ और ?' और उन्हें खिलाते और महाराज प्रकट हो कर खाते ।

वे महाराज की प्रत्यक्ष सेवा तो करते ही थे, किन्तु जब वे गोपीनाथजी की मूर्ति को वस्त्र-अलंकार पहनाते थे, मूर्ति की दसों उँगलियों में अंगूठियाँ पहनाते थे, तब भी वे मूर्ति को मूर्ति ही नहीं वरन् स्वयं महाराज ही समझते थे । ध्यान रखते थे कि पहनाने में महाराज को कष्ट न हो । भज़्त की मर्यादा में रहकर मूर्ति की सेवा करते ।

एक बार श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मचारी को सभा में बोलने के लिए कहा । ब्रह्मचारी तुरन्त उठ खड़े हो गये । तालियाँ बजा-बजाकर जोर से बोलना आरज़्भ किया : 'हरिभज़्तो ! सुनो, सुनो ! सारे अवतार इस स्वामिनारायण भगवान की सेवा करते हैं । ऐसा अवतार पहले कभी नहीं हुआ है और न भविष्य में होगा । उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए । उसमें कोई भूल नहीं होनी चाहिए ।'

यह एक ही बात बार-बार बोलकर बैठ गये । महाराज ने बहुत प्रसन्न होकर कहा, 'ब्रह्मचारी विशेष पढ़े नहीं हैं पर बात के सार तज़्व को समझ लेते हैं ।'

एकबार महाराज गढ़डा में सन्तों की जोड़ियाँ बना रहे थे । उस समय ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा : 'मूलजी ब्रह्मचारी का जोड़ीदार कौन है ?'

महाराज ने उज़र दिया : 'ब्रह्मचारी के जोड़ीदार तो पहले से ही तय

हैं : मूलानन्द और सहजानन्द ।' यहाँ मूलजी ब्रह्मचारी के साथ महाराज का अतिशय प्रेम प्रकट होता है ।

श्रीजीमहाराज स्वधाम गये । अगले दिन मूलजी ब्रह्मचारी अक्षरओरड़ी में महाराज के दर्शन करने के लिए गये । वहाँ उन्होंने महाराज को पलंग पर सोये हुए देखा । नित्य की भाँति महाराज को जगाया, दातुन दी, गर्म पानी से स्नान कराया । जैसे ही नित्य का यह कर्म समाप्त हुआ महाराज अदृश्य हो गये । इस तरह महाराज ने उन्हें दिव्य दर्शन देकर यह निश्चय करवाया, 'वे अक्षरओरड़ी में प्रगट विराजते हैं ।'

वि.सं. १९०२ (सन् १८४६) मूलजी ब्रह्मचारी गढ़डा में बीमार पड़े । ब्रह्मचारी ने महाराज से प्रार्थना करी, 'हे महाराज ! कृपया मुझे अपने धाम में ले जाओ ।'

तब महाराज ने दर्शन देकर कहा, 'हमने यह मन्दिर बनवाया है । इस पर सफेदी करवाओ । उसके पूरा हो जाने पर, हम आकर तुज़्हें धाम ले जाएँगे ।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज अदृश्य हो गये । इस घटना के बाद उन्होंने इस काम के लिए चंदा इकट्ठा किया । पुताईवाले को बुलाकर मन्दिर पर सफेदी करवाई ।

वि.सं. १९०४ (सन् १८४८) में गढ़पुर में उत्सव मनाया गया । वरताल के आचार्य रघुवीरजी महाराज, गोपालानन्द स्वामी और नित्यानन्द स्वामी उत्सव में पधारे थे । अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी भी जूनागढ़ से उत्सव की शोभा बढ़ाने आये थे ।

पूर्णमासी के दिन, नित्यानन्द स्वामी ने सबको सभा में बताया था, 'मूलजी ब्रह्मचारी ने बहुत परिश्रम करके इस मन्दिर की सफेदी करवाई है । मन्दिर में सोने का कलश, सिंहासन आदि हो सकते हैं, परन्तु गुणातीतानन्द स्वामी जैसा साधु और मूलजी ब्रह्मचारी जैसा ब्रह्मचारी न होगा । इस तरह से उन्होंने दोनों सन्तों की बहुत सारी महिमा की बातें कहीं ।

मन्दिर की सफेदी का काम पूरा हो जाने पर मूलजी ब्रह्मचारी को अपने शरीर में दुर्बलता अनुभव होने लगी । उस दिन ग्रहण पड़नेवाला था परन्तु ग्रहण लगा नहीं । मूलजी ब्रह्मचारी ने सभा में आकर कहा, 'आज मैं धाम में जा रहा हूँ, अक्षरओरड़ी में अन्तिम दर्शन के लिए आओ हम सब साथ चलें ।'

सभी उनके साथ अक्षरओरड़ी में आये । दर्शन करके ब्रह्मचारी का हृदय भारी हो गया । अक्षरओरड़ी की प्रदक्षिणा करके गोपीनाथ महाराज के दर्शन किये । फिर ठाकुरजी का थाल मंगवाकर थोड़ा सा प्रसाद लिया । सभी पुताईवालों को बुलाकर प्रसाद और वस्त्र दिये । फिर सभी ने भजन गाये । वहाँ अनन्त मुज़्तों के साथ श्रीजीमहाराज मूलजी ब्रह्मचारी को लेने के लिए प्रकट हुए । सारा दरबारगढ़ अलौकिक प्रकाश से भर गया । अनेक सन्तों को उनके दिव्य दर्शन हुए । मूलजी ब्रह्मचारी भौतिक देह को त्यागकर महाराज के पास पहुँच गये । उनका अंतिम संस्कार भज़्तिबाग के पीछे घेला नदी के ओरिया तट पर किया गया था । अग्नि संस्कार पूरा हो जाने के पश्चात् ग्रहण लगा ।

मूलजी ब्रह्मचारी, श्रीजीमहाराज के अनेक मानव-चरित्रों के साक्षी थे, परन्तु किसी दिन भी उन्हें संशय नहीं हुआ । वे श्रीजीमहाराज की सर्वोपरि महिमा को समझते थे । मूलजी ब्रह्मचारी हमेशा ही महाराज के साथ छाया की तरह लगे रहे और जब तक वे पृथ्वी पर रहे हमेशा निर्दोष बुद्धि और स्पष्ट ज्ञान रखते हुए अखंड सेवा की । उनके उदाहरण को हमारे सामने रखने के लिए गुरुहरि शास्त्रीजी महाराज ने सारंगुपर मन्दिर में मूलजी ब्रह्मचारी की संगमरमर की मूर्ति स्थापित की ।

मूलजी ब्रह्मचारी जैसी सेवा-भज़्ति तथा निर्दोषबुद्धि हम सबको प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

आचार्य श्री अयोध्याप्रसादजी महाराज

अहमदाबाद देश के आदि आचार्य
श्री अयोध्याप्रसादजी महाराज

श्रीजीमहाराज ने अनेकों मन्दिरों का निर्माण किया और उनमें नियमित पूजा की व्यवस्था की और ज्ञानी सन्तों की परज़्परा खड़ी करके एक शुद्ध सज़्प्रदाय की स्थापना की । किन्तु कुशलतापूर्वक मन्दिरों का प्रबन्ध करना एक टेढ़ी खीर थी । उनकी इच्छा थी कि साधु व्यवस्था के काम से पृथक् रहें और सुख से भगवान का भजन करें और सब लोगों से भजन करवाएँ । इसलिए मन्दिर का उज़रदायित्व उन्हें न सौंपा जाए । तब उन्होंने विचार किया कि इन कामों के लिए आचार्यों की नियुज़्ति की जाए, उनके कार्य-व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए नियम बनाये गये ।

किन्तु आचार्य किसे नियुज़्त किया जाए ? वेतनधारी ब्राह्मण पुजारी को रखकर यह काम करवाया गया था परन्तु यह व्यवस्था सफल नहीं रही । वास्तव में वेतनधारी व्यज़्ति को रखने में बहुत सारी हानियाँ थीं । वासुदेवानन्द ब्रह्मचारी को आचार्य के रूप में रखकर प्रयोग किया गया, किन्तु यह प्रयोग भी असफल रहा । इसलिए, सभी प्रमुख सद्गुरुओं और हरिभज़्तों ने निश्चय किया कि महाराज के सगे-सज़्बन्धी जो कि उज़रप्रदेश में गोंडा जिले के छपिया में रह रहे हैं उन्हें आचार्य पद का उज़रदायित्व उठाने के लिए निमंत्रित किया जाए ।

सभी के द्वारा आग्रह करने पर महाराज ने अपनी सज़्मति दी । विशेषरूप से दो सन्तों को धर्मकुल के सदस्यों को लाने के लिए भेजा गया । ज़्योंकि महाराज के सज़्बन्धी धर्मदेव के परिवार के थे, इसलिए सज़्प्रदाय में उन्हें धर्मकुल का कहा जाता है ।

महाराज के दोनों भाई रामप्रतापभाई, इच्छारामभाई, सुवासिनी भाभी और भतीजे महाराज के दर्शन करके अति प्रसन्न हुए । वे तो यह मान रहे थे कि घनश्याम अब इस संसार में नहीं है, किन्तु जब वे अपने परम लाड़ले और

प्रतापी घनश्याम से बहुत वर्षों के पश्चात् मिले तो उनके हर्षाश्रु निकल आये । धर्मकुल के सदस्यों से मिलकर संत और हरिभज़्त भी बहुत प्रसन्न हुए ।

परिवार का पुनर्मिलन हुआ, उसके पश्चात् संवत् १८८२ (सन् १८२६) कार्तिक शुज़्ल एकादशी को श्रीजीमहाराज ने अपने दो भतीजों, अयोध्याप्रसादजी और रघुवीरजी को क्रमश: अहमदाबाद की नरनारायण देव और वरताल की लक्ष्मीनारायण देव गद्दियों का आचार्य नियुज़्त किया ।

अहमदाबाद गद्दी के आदि (प्रथम) आचार्य अयोध्याप्रसादजी का जन्म छपिया में संवत् १८६५ (सन् १८०९) में ज्येष्ठ माह की शुज़्ल पक्ष की एकादशी के शुभ दिन हुआ था । उनके पिता का नाम रामप्रतापभाई और माता का नाम सुवासिनी था ।

अयोध्याप्रसादजी अत्यन्त निर्मानी स्वभाव के थे । यद्यपि प्रमुख प्रमुख सद्गुरु उनके अधीन थे, किन्तु उन्होंने कभी उनसे मान की इच्छा नहीं की । वे तो जन्म से ही साधु स्वभाव के थे और आजन्म सत्संग के उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहे ।

उनकी श्रीजीमहाराज में बहुत श्रद्धा थी और निरन्तर महाराज का भजन स्मरण करते । धर्म-नियम के पालन में कठोर थे । उनके आश्रित संत एवं हरिभज़्त धर्मनियम का दृढ़ता से पालन करें, यही उनका हमेशा आग्रह रहता था । महाराज की कृपा से आत्मनिष्ठा आदि सद्गुण उनमें आ गये थे । कोई भी उनके जीवन में सद्गुणों को चरितार्थ होते देख सकता था ।

एक बार वे जेतलपुर के निकट गामड़ी गाँव में गये । उस गाँव के हरिभज़्तों ने आचार्य महाराज का भव्य स्वागत किया । उन सबका आनन्द समा नहीं रहा था । इस उत्साह के रंग में सबकुछ भूलकर कार्य कर रहे थे । सभा के पश्चात् ठाकुरजी को थाल धरा और आचार्य महाराज को बहुत प्रेम से परोसा । दूधपाक बनाया हुआ था । उसे आग्रहपूर्वक करके खूब परोसा । आचार्य महाराज ने भी बड़े प्रेम से उनके आग्रह का मान रखा ।

जब आचार्य महाराज ने भोजन कर लिया, हरिभज़्तों ने खाना प्रारज़्भ किया । तब पता चला कि दूधपाक तो बहुत नमकीन है । दूधपाक में शज़्कर के बदले नमक डाल दिया है । उन्हें बहुत पछतावा हुआ । परन्तु आचार्य महाराज तो नि:स्वादी थे, उनके लिए नमक चीनी समान थे ।

गाँव के सभी हरिभज़्त आचार्य महाराज के पास आये और अपनी इस भूल के लिए क्षमा माँगी । उन्होंने हँसकर उज़र दिया, 'दु:ख मत मानो, भगवान के प्रसाद में किसी को स्वाद नहीं देखना चाहिए । भगवान के प्रसाद के रूप में जो भी मिले उसे प्रसन्नता से स्वीकार कर लेना चाहिए ।'

एक बार आचार्य महाराज अवध भवन में बैठे मानसी पूजा कर रहे थे । वे श्रीजीमहाराज की अलौकिक मूर्ति में ध्यानमग्न थे । तभी अचानक एक बिच्छू निकला और उनकी कमर पर चढ़ गया और अपने स्वभाव के अनुसार उसने पीठ पर डंक मारा । किन्तु आचार्य महाराज ध्यानमग्न ही रहे । मानसी पूजा की विधि पूरी हो जाने और जाग्रत होने पर उन्होंने सेवकों से पूछा कि जरा देख लीजिए हमारी पीठ पर ज़्या हुआ है ?

सेवकों ने देखा कि पीठ सूजी हुई है और लाल हो गई है । कपड़े में छिपा एक बिच्छू मिला । आचार्य महाराज ने कहा : 'हरकोई अपने स्वभाव के अनुसार क्रिया करता है । यदि दुष्ट अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो भला व्यज़्ति अपनी भलाई ज़्यों छोड़े ?'

आचार्य अयोध्याप्रसादजी में समता का भाव विशेष था । वे छोटे या बड़े सभी हरिभज़्तों की भावनाओं का समान आदर करते थे । प्रसन्नता से उनके घरों में पधारते थे । अपनी दयालु प्रकृति के कारण वे सन्तों एवं हरिभज़्तों के मध्य लोकप्रिय थे । उनकी दयालुता का प्रमाण एक पत्र से मिलता है । यह पत्र उन्होंने अकाल के समय सत्संगियों को लिखा था ।

'...पत्र लिखने का कारण यह है कि हमारा यह देशकाल कठिन है । इसलिए सभी बाई-भाई धर्म के नियमों का पालन करते रहें और श्रीजीमहाराज का भजन-स्मरण निरन्तर करते रहें ।

अपनी सारी देखभाल तो श्रीजीमहाराज करते हैं । दूसरे, यदि हमारा कोई सत्संगी अन्न की कमी के कारण दु:खी हो तो जो ठीक-ठाक हैं वे सब मिलकर ऐसे हरिभज़्त का ध्यान रखें । उसे दु:खी न होने दें । यदि वे हरिभज़्त अन्न का प्रबन्ध करने की स्थिति में न हों तो वे जरूरतमंद के लिए अन्न का प्रबन्ध कर दें तथा वह राशि हमारे नाम में लिख लें । हम सब हिसाब चुकता कर देंगे ।' (सोमवार, भाद्रपद वदी १०, संवत् १८८९ सन् १८३३)

आचार्यश्री अयोध्याप्रसादजी महाराज अक्षरब्रह्म गुणातीतानन्द स्वामी में

अत्यधिक पूज्यभाव रखते थे । संवत् १९२३ (सन् १८६७) में आचार्यश्री बीमार पड़े, उन्हें तेरह दिन के उपवास हुए । मानसिक अशान्ति बनी रही । अत: उन्होंने विशेष रूप से गुणातीतानन्द स्वामी को अहमदाबाद बुलवाया । जब वे अहमदाबाद आये तो स्वामी का स्वागत करने के लिए हाथी, गाड़ियों और लगभग सात सौ संतों, पार्षदों और ब्रह्मचारियों को भेजा । अहमदाबाद में स्वामी का अद्‌भुत सज़्मान किया गया । ठाकुरजी के दर्शन करके स्वामी आचार्य महाराज से मिलने ऊपर गये ।

स्वामी को देखकर आचार्य महाराज गद्‌गद हो गये । उन्होंने स्वामी से कहा : 'स्वामी ! आपका दर्शन करके मुझे शान्ति हो गई है ।'

स्वामी ने उज़र दिया : 'श्रीजीमहाराज सर्वकर्ता हैं । संसारचक्र उनकी इच्छा से चलता है । आपने १३ दिनों से कुछ खाया नहीं है । कृपया कुछ ग्रहण कीजिए । किसी बात की चिन्ता न करें । महाराज अच्छा करेंगे ।'

स्वामी के आग्रह करने से आचार्य महाराज ने थोड़ा सा खाया । आचार्य महाराज की विनती स्वीकार करके स्वामी ने रामनवमी का उत्सव अहमदाबाद में ही मनाया । उपासना की बातें समझाकर सभी को शान्ति प्रदान की । अहमदाबाद गद्‌दी के उज़राधिकारी, आचार्य महाराज के पुत्र श्री केशवप्रसादजी स्वामी की बातों से बहुत प्रभावित हुए । उन्होंने संसारी जीवन से रुचि हटाई और स्वामी की सभा में नित्य जाने लगे, उनका अन्त:करण स्वामी की बातों में रंग गया ।

आचार्य महाराज ने आग्रह किया कि स्वामी अगले दिन संत मण्डल के साथ हवेली में भोजन के लिए पधारें । आचार्य महाराज ने सोने की थाली मंगवाई और स्वामी से प्रार्थना की : 'हे स्वामी ! आप तो महाराज के स्वरूप हैं, इसलिए आप निश्चित रूप से इस थाली में भोजन कर सकते हैं । आपकी सेवा महाराज की सेवा है, ऐसा मैं समझता हूँ । आपके लिए तो मिट्‌टी और सोना समान है । अत: कृपा करके इस थाल में भोजन करिए ।'

स्वामी उनके भावों को समझकर अति प्रसन्न हुए । परन्तु श्रीजीमहाराज की आज्ञा में रंचमात्र भी कमी नहीं आनी चाहिए, इसलिये वे तैयार नहीं हुए । चूंकि आचार्य महाराज अतिशय आग्रह कर रहे थे, इसलिये स्वामी ने लकडी का अपना भोजन पात्र उस थाली में रखा, बाजरे की रोटी

और पतली दाल उस पात्र में खाई । स्वामी के दर्शन एवं समागम से आचार्य महाराज की अन्तरात्मा में शान्ति हो गई ।

आचार्य महाराज विद्वान थे और सद्‌विद्या के प्रचार प्रसार के लिए हमेशा सभी को प्रोत्साहित करते रहते । उन्होंने 'सत्संगिजीवन' ग्रन्थ की तज़्वार्थ-दीपिका नाम से टीका लिखवाई है । वे अच्छे कवि भी थे, उनके भजन इस बात को प्रमाणित करते हैं ।

वे स्थापत्य कलाओं में बहुत रुचि रखते थे । अहमदाबाद मंदिर की हवेली के निर्माण के पीछे उनकी प्रेरणा थी । डूंगरपुर, ईड़र, जेतलपुर, सिद्धपुर, माण्डवी, कच्छ और छपिया आदि स्थानों में सुशोभित मन्दिर-हवेली के निर्माणों में उनकी मुज़्य प्रेरणा थी ।

अयोध्याप्रसादजी महाराज ने अपने पुत्र केशवप्रसादजी को अपने स्थान पर आचार्य नियुज़्त किया और वि.सं. १९२४ (सन् १८६८) के फाल्गुन मास के शुज़्ल पक्ष की सप्तमी को अपना नश्वर शरीर छोड़ दिया । उन्होंने ४२ वर्ष तक आचार्य पद से सत्संग की सेवा की ।

भज़्तराज दादाखाचर

भक्तराज दादाखाचर

गुजरात के वाळाक क्षेत्र में उमेज नाम का गाँव है । उस गाँव में लाखा पटेल की फलों की एक सुन्दर बगीची थी । उस बगीची में केले के वृक्ष के निकट एक नीम का पौधा था । उस बगिया में घूमते-फिरते विठ्ठलानन्द और बालानन्द नाम के दो संत पधारे । उन्होंने उस नीम के पौधे को देखकर कहा कि इस नीम के नीचे भगवान बैठेंगे । उस समय गढ़ड़ा के एभल खाचर और उनका साला घेला धाधल किसी काम से वहाँ आये थे । जब उन्होंने नीम के बारे में यह बात सुनी तो उन्होंने लाखा पटेल से वह नीम का पौधा माँग लिया । गढ़ड़ा आकर वह पौधा अपने दरबार में लगा दिया ।

एभल खाचर रामानन्द स्वामी के शिष्यों में से थे । रामानन्द स्वामी के देहत्याग के पश्चात् उन्होंने सुना कि उनके स्थान पर सहजानन्द स्वामी गद्दी पर बैठे हैं । इतने में सहजानन्द स्वामी कारियाणी में माचा खाचर के घर पधारे । माचा भज़्त ने एभल खाचर के परिवार को सहजानन्द स्वामी के दर्शन करने के लिए निमंत्रण दिया । यहाँ ही पहली बार एभल खाचर ने महाराज को देखा था । महाराज महान साधु हैं इस प्रभाव को लेकर वे लौट गये । तत्पश्चात् महाराज छुपे वेष में गढ़पुर आकर एभल खाचर के दरबार में रहे और प्रसंग आने पर एभल खाचर को अपने दिव्य दर्शन दिये और एभल खाचर ने महाराज की सच्ची महिमा समझी । तभी से वे महाराज के अनन्य भज़्त बन गये । जिस नीम के पौधे को उन्होंने लाखा पटेल की बगीची से लाकर लगाया था, महाराज उसके नीचे बैठे । इससे महाराज के दिव्य स्वरूप में उनकी निष्ठा दृढ़ हुई ।

एभल खाचर (अभय राजा) की दो पत्नियाँ थीं, सोमादेवी और सुरप्रभा । वि.सं. १८५७ (सन् १८०१) पोष वदी ६ को सोमादेवी ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । उसका नाम 'उज़म' रखा । बाद में यही बालक सत्संग में दादाखाचर के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

बालपन से ही दादा में भज़्ति के संस्कार थे । जब वे युवा हुए, एभल खाचर ने राज्य का कारभार उन्हें सौंप दिया, परन्तु अपने पुत्र दादाखाचर तथा समग्र परिवार एवं राज्य तो उन्होंने श्रीजीमहाराज को ही अर्पित कर दिया । दादाखाचर और उनकी दो बहनों की अतिशय भज़्ति से वश होकर महाराज दादाखाचर के दरबार को अपना घर मानकर वहाँ रहे ।

दादाखाचर स्वभाव के अतिप्रिय एवं उदार थे । ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे इनका महाराज से पूर्वजन्मों का परिचय है । वे महाराज के परम भज़्त थे । इतना ही नहीं कि वे महाराज को अत्यधिक प्रेम करते थे वरन् उनको महिमा सहित महाराज के पूर्ण पुरुषोज़म स्वरूप का दृढ़ निश्चय था ।

गढ़पुर में रहते हुए महाराज प्राय: उन्मत गंगा - घेला नदी में संतों हरिभज़्तों के साथ स्नान करने जाया करते थे । एक बार जब महाराज घेला नदी से स्नान कर सन्तों, हरिभज़्तों के साथ लौट रहे थे, तब उन्होंने देखा कि कुछ बाबा आकाश के नीचे टेकरी पर ठहरे हैं । महाराज दादाखाचर के चाचा जीवाखाचर की ओर देखकर बोले, 'ये बाबा आकाश के नीचे रहते हैं, ज़्यों न हम यहाँ उनके ठहरने के लिए एक आश्रम बनवा दें ? ज़्या वह अच्छा न होगा ?'

चाचा जीवाखाचर ने उज़र दिया, 'घुमज़्कड़ बाबाओं की हम ज़्यों चिन्ता करें ? एक तो है नहीं, हैं भी असंज़्य । महाराज ! ये तो लंगोटियाँ बाँधकर दर दर घूमते फिरते हैं । इनका हम ज़्या ध्यान रखें ?' यह सुनकर महाराज कुछ नहीं बोले ।

बाद में किसी समय महाराज ने यही बात दादाखाचर से कही । दादाखाचर ने हाथ जोड़कर कहा, 'महाराज ! मैं साधुओं के रहने के लिए अपना दरबार देने को तैयार हूँ ।'

तब महाराज ने उनसे प्रश्न किया, 'यदि तुम अपना दरबार साधुओं को रहने के लिए दे दोगे तो तुम कहाँ रहोगे ?'

'महाराज ! हम नदी के किनारे की झोंपड़ी में रहने लगेंगे । परन्तु भगवान के भज़्तों को कष्ट में कैसे रहने दे सकते हैं ।'

यह सुनकर महाराज के मुख से ये शज़्द निकल गये, 'दादा तो दादा ही है । ऐसा दूसरा और कोई नहीं हो सकता ।'

दादाखाचर महाराज की आज्ञा का पालन करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे । आज्ञापालन के लिए वे अपने जीवन, धन या परिवार की चिन्ता नहीं करते थे । श्रीजीमहाराज की इस इच्छा को पूरा करने के लिए दादाखाचर ने अपने दरबार का बहुत बड़ा भाग सन्तों के रहने के लिए खाली कर दिया । आप सन्तों के साथ रहते और उनकी पत्नी और दो बहनें अन्य स्त्री-भज़्तों के साथ अलग कमरे में रहतीं ।

एक बार वसो से गिरधरभाई गढ़ड़ा आये । वे महाराज को वसो पधारने का निमंत्रण दे रहे थे । उन्होंने कहा, 'आपको तो दादा ने बाँध लिया है । आप हमारे यहाँ कैसे आ सकते हैं ?'

महाराज ने उज़र दिया, 'दादाखाचर ने हमें सर्वस्व अर्पण कर दिया है । अपने पशुओं के दूध-दही का भी सिर्फ़ संतों की सेवा करने के लिए ही उपयोग करते हैं । उनकी भज़्ति को देखकर, हम दादा से बिछुड़ने का कैसे सोच सकते हैं ?'

ऐसा भज़्त जब भगवान के आश्रय में रहे तो भगवान ऐसे भज़्त के अधीन हो जाते हैं । जो ऐसा भज़्त होता है भगवान उसके योगक्षेम का ध्यान रखते हैं । एक बार दादाखाचर किसी आवश्यक काम से गढ़पुर से दूर गये हुए थे । उस समय कुछ शत्रुओं ने गढ़पुर पर हमला किया । महाराज को इस बात का समाचार मिला । उन्होंने कवच धारण किया और तलवार व ढाल लेकर सैनिक की भाँति बाहर निकले और बोले, 'किसी बात की चिन्ता मत करो । मैं अकेला हजारों का नाश कर दूँगा ।'

जब महाराज ने शत्रुओं पर अपनी दृष्टि डाली, शत्रु अपने सैनिकों के साथ उस स्थान से भाग खड़े हुए । इस तरह महाराज ने दादाखाचर की अनुपस्थिति में गढ़पुर की रक्षा की ।

दादाखाचर महाराज की बहुत सेवा करते थे और महाराज सबके सामने उनकी प्रशंसा करते थकते नहीं थे । इसलिए जीवाखाचर दादाखाचर से द्वेष करने लगे थे । चूँकि दादाखाचर नि:सन्तान थे, अत: जीवाखाचर की दृष्टि उनकी सज़्पज़ि एवं जमींदारी (गरास) पर थी । उन्ही दिनों दादाखाचर गज़्भीर रूप से बीमार पड़े । जीवाखाचर ने सोचा, 'दादाखाचर के मरने पर सारी सज़्पज़ि का मैं उज़राधिकारी बन जाऊँगा ।'

अन्तर्यामी महाराज से उनकी भावना छुपी नहीं रही । जीवाखाचर की नीयत से बचने के लिए उन्होंने दादाखाचर से कहा : 'दादा ! तुम अपनी जमींदारी अपनी दो बहनों के नाम कर दो ।' एक क्षण की भी देरी किये बिना दादाखाचर ने अपनी दो बहनों के नाम में जमींदारी लिख दी । उन्होंने अपने भविष्य के बारे में तनिक भी विचार नहीं किया ।

महाराज ने बाद में पूछा, 'अब तुम ज़्या करोगे ?'

दादाखाचर ने उज़र दिया, 'मैं भावनगर जाकर राजा की सेवा करूँगा ।'

तत्पश्चात् महाराज ने बहनों को बुलाया और पूछा, 'तुज़्हारी जमींदारी को लेकर भावनगर राज्य के साथ काम-काज तो पड़ेगा ही, तब तुम ज़्या करोगी ? इसलिए एक नौकर रख लो ।' उन्होंने दादाखाचर को पुन: बुलवाया और कहा, 'नौकरी कहीं और करो इससे तो अच्छा यही है कि तुम यहीं रहो और अपनी बहनों के कार्यों का प्रबन्ध करो ।'

दादा बहुत प्रसन्न हो गये और महाराज की बात मान ली और लगभग एक वर्ष तक अपनी बहनों की जमींदारी की देखभाल की ।

एक समय महाराज ने दोनों बहनों को अपने पास बुलाया और आज्ञा दी, 'तुज़्हें जमींदारी की ज़्या आवश्यकता है ? इसे दादाखाचर को वापस कर दो ।' इस तरह उन्होंने जमींदारी दादाखाचर के नाम वापस लिखवा दी । केवल अति विश्वासी और परम भज़्त ही ऐसी कठोर परीक्षा में उज़ीर्ण हो सकता है, कोई और नहीं ।

दादाखाचर से द्वेषवश, एक बार जीवाखाचर ने भावनगर के महाराजा वजेसिंह के कान भरे, 'दादाखाचर के दरबार में स्वामिनारायण और दादाखाचर की दो बहनें साथ रहते हैं । इससे हमारा कुटुज़्ब कलंकित होता है । इसलिए आप दादाखाचर को राज्यसभा में बुलाकर फटकारो ।'

भावनगर के महाराजा भगवान स्वामिनारायण की महिमा से अनभिज्ञ थे, दादाखाचर के घर की यह करतूत सुनकर स्तज़्ध रह गये । उन्होंने दादाखाचर को अपनी राज्यसभा में फटकारने का निश्चय कर लिया । जीवाखाचर का उद्देश्य दादाखाचर के यश को मिट्टी में मिलाने का था और यह भी कि सज़्भवत: वजेसिंह बापू के कहने से दादाखाचर महाराज को अपने दरबार से निकाल दें । भावनगर की राज्यसभा में वजेसिंह बापू ने

दादाखाचर से पूछा, 'ज़्या तुमने अपनी बहनों को स्वामिनारायण से मिलने की अनुमति दी है ?'

निर्भयतापूर्वक दादाखाचर ने कहा, 'उन्हें किसी काठी को देने के स्थान पर मैंने उन्हें भगवान को सौंप दिया है । जिन्हें मरने के बाद पाना था, हम भाग्यशाली हैं कि वे हमें जीते जी मिल गये हैं । यह तो उनका बड़ा भाग्य है कि उन्हें भगवान स्वामिनारायण मिल गये हैं ।' वजेसिंह बापू, दादाखाचर की निष्ठा देखकर कुछ बोल नहीं सके । जीवाखाचर की मन की मन में ही रह गई ।

दादाखाचर के दरबार के जिस कमरे में महाराज रहते थे उसे अक्षर ओरड़ी कहते थे । एक बार महाराज अक्षर ओरड़ी में बैठे थे । किसी काम के लिए वे दादाखाचर से मिलना चाहते थे । इसलिए उन्होंने जोर से आवाज़ देकर दादा को पुकारा । उस समय दादाखाचर दाढ़ी बनवा रहे थे । दाढ़ी अभी आधी ही बनी थी कि पुकार लग गई । उन्होंने नाई से कहा, 'रुको ! महाराज बुला रहे हैं ।' वे वहाँ से उठे, सिर ढका और अक्षर ओरड़ी में महाराज के पास पहुँच गये ।

महाराज ने पूछा, 'दादा तुम कहाँ थे ?'

'मैं दाढ़ी बनवा रहा था ।'

'ज़्या तुमने बनवा ली ?'

'नहीं महाराज ! मैं बीच में ही उठ आया ।'

महाराज ने टिप्पणी की, 'देखो, इसको हमारा कितना विश्वास है !' और दादाखाचर को पूरी दाढ़ी बनवा लेने के बाद आने को कहा ।

बहुत समय से दादाखाचर और भावनगर राज्य के मध्य जमींदारी को लेकर विवाद चल रहा था । प्रत्येक तिथि को दादाखाचर भावनगर जाते, महाराज उन्हें आशीर्वाद भी देते किन्तु विवाद अगली तिथि के लिए स्थगित हो जाता । महाराज के आशीर्वाद देने के पश्चात् भी विवाद का निर्णय नहीं हो रहा था किन्तु दादाखाचर के मन में एक क्षण के लिए भी शंका नहीं आई ।

एक बार खेत में बाजरा पक कर तैयार हो गया और उसे ढोकर घर लाना था । किन्तु जेठ के महीने में अचानक वर्षा हो गई और सारा बाजरा धरती पर आ गया । परन्तु दादाखाचर को इससे तनिक भी दु:ख नहीं हुआ । महाराज जो करते हैं भलाई के लिए ही करते हैं, इस विश्वास में से उन्हें शज़्ति मिलती ।

दरबार में बहुत सारी स्त्रियाँ रहती थीं । एक बार एक स्त्री चौबीस सौ रुपए लेकर चज़्पत हो गई । वह दूर गढ़पुर की सीमा पर पहुँची, किन्तु दिशा भूल गई । वह जिधर देखती उधर गढ़ड़ा ही दिखाई देता । हारकर वह वापस आई और रुपया लौटा दिया ।

जब महाराज ने सुना, उन्होंने दादाखाचर से कहा, 'बाई का सिर अलग कर दो ।'

दादाखाचर ने उज़र दिया, 'महाराज ! यह बहुत बूढ़ी है और फिर महाराज मैं उसको कैसे मार सकता हूँ जो आपका नाम जपती है ।'

किन्तु महाराज ने क्रोधित होकर दादाखाचर को चेतावनी देते हुए कहा, 'तुम यदि ऐसे व्यवहार करोगे तो तुज़्हारी कौन सुनेगा ?'

दादाखाचर ने पुन: कहा : 'किन्तु मैं आपके भज़्त को कैसे मार सकता हूँ ?' क्रोधित दिखाई देनेवाले महाराज हँस रहे थे । 'तुम धन्य हो' और तब महाराज ने प्रसादी के रूप में अपनी माला दी ।

गढ़ड़ा में घेला नदी के कांठे में टीले के ऊपर महाराज ने मन्दिर बनवाने का संकल्प किया । वे पहाड़ी पर स्वयं चढ़े और जगह पसंद की । इस पहाड़ी में जीवाखाचर का भी हिस्सा था । महाराज ने जीवाखाचर से विनती की कि मन्दिर बनवाने के लिए वह स्थान दान कर दें ।

उन्होंने साफ शज़्दों में कहा : 'महाराज ! दादाखाचर की कोई खानेवाली सन्तान नहीं है, मेरा तो बहुत बड़ा कुनबा है । मैं आपकी बात नहीं मान सकता ।'

महाराज को इस बात से दु:ख हुआ और वे गढ़पुर से सारंगपुर चले गये और वहाँ मन्दिर बनाने का निश्चय किया । जब दादाखाचर और उनकी दोनों बहनों ने सुना तो उन्होंने अन्न-जल छोड़ दिया और बिलखती हुई सारंगपुर पहुँचीं । उन्होंने महाराज से गढ़ड़ा में मन्दिर बनवाने का आग्रह किया । महाराज उनकी अतिशय भज़्ति और प्रेम से अभिभूत होकर गढ़डा लौट आये । दादाखाचर ने अपने निवास के सारे दरबार को मन्दिर के लिए दानपत्र पर लिख दिया ।

जीवाखाचर के शज़्द महाराज को स्मरण थे । उन्होंने सोचा दादाखाचर का दूसरा विवाह कराया जाये जिससे उनका वंश चले । दादाखाचर महाराज

के नियमों के अनुसार सांज़्य व्रत का पालन कर रहे थे । वे संसार के भोगों की ओर तनिक भी रुचि नहीं रखते थे । किन्तु महाराज के कहने से वे विवाह करने के लिए तैयार हो गये । जैसे भगवान कृष्ण अर्जुन का रथ हाँकते थे, इसी प्रकार महाराज दादाखाचर के रथ को हाँककर भटवदर ले गये । यहाँ दरबार नागपाल वरु की पुत्री जसुबा के साथ महाराज ने दादाखाचर का विवाह बड़ी धूमधाम से सज़्पन्न करवाया । जसुबा में भी महाराज के प्रति पूर्ण भज़्ति थी । कुछ वर्ष के पश्चात् उसने दो पुत्रों को जन्म दिया - बावाखाचर और अमराखाचर ।

दादाखाचर के दरबार के प्रांगण में महाराज ने एक विशाल मन्दिर बनवाने का शुभारज़्भ किया । मन्दिर की नींव के लिए महाराज स्वयं अपने सिर पर पत्थर रखकर घेला नदी से लाते थे । महाराज ने यहाँ गोपीनाथजी की मूर्ति जो उनकी सूरत और कद से मेल खाती थी, प्रतिष्ठित की । दादाखाचर के स्वप्न पूरे हुए । जब महाराज अक्षरधाम चले गये तो दादाखाचर उनका विरह सहन न कर सके, वे भी चिता में कूदने उतारु हो गये, परन्तु सभी सन्तों और हरिभज़्तों ने उन्हें कसकर पकड़ लिया । गुणातीतानन्द स्वामी एवं गोपालानन्द स्वामी ने उन्हें सान्तवना दी । महाराज स्वयं प्रगट हुए और उन्होंने शुद्ध गुलाबों का हार भेंट दिया और उनको दिव्य शान्ति एवं आनन्द देकर कृतार्थ किया ।

आर्थिक दृष्टि से बहुत सज़्पन्न न होने पर भी दादाखाचर की इच्छा रहती थी कि महाराज गढ़डा में रहें । उनके आँगन में बड़े बड़े उत्सव हुए थे । हजारों संत-हरिभज़्त आये थे । खूब भीड़-भाड़ हुई थी । फिर भी उन्हें चिन्ता न होकर प्रसन्नता होती थी । महाराज के प्रति उनकी भज़्ति दृढ़ थी । उनकी प्रेमलक्षणा भज़्ति के वश में होकर पूर्ण पुरुषोज़मनारायण लगभग तीस वर्ष गढ़ड़ा दरबार में रहे ।

वि.सं. १९०९ (सन् १८५३) में महाराज का अखंड स्मरण करते हुए दादाखाचर ने गढ़ड़ा में देहत्याग कर अक्षरधाम में महाराज के पास प्रस्थान किया और महाराज की अखंड सेवा में लग गये ।

भज़्तरत्न लाडूबा

भक्तरत्न लाडूबा

गढ़ड़ा के एभल खाचर की दो पुत्रियाँ अपने भाई दादाखाचर से बड़ी थीं । दोनों बहनों में जो छोटी थीं उनका नाम लाडूबा था । लाडूबा को ललिता भी कहते थे । वह मात्र रूपवती एवं गुणवती ही नहीं बहुत बुद्धिमान भी थीं । पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण, उनमें बालपन से ही भगवान के प्रति भज़्तिभाव था । अत: उनका उज़म वस्त्रों, स्वादिष्ट व्यंजनों आदि में कोई रुचि नहीं थी । उन्होंने अपने मन को श्रीजीमहाराज की पूजा की ओर लगाया । महाराज का अखंड स्मरण, सेवा और निष्काम भज़्ति व निष्ठा के गुण उनमें विशेष रूप से थे । पुरुषों से वह हमेशा दूरी रखतीं ।

महाराज के साथ प्रेमलक्षणा भज़्ति से जुटी लाडूबा ने गोपियों की तरह प्रभु को ही परमपति के रूप में स्वीकार किया था, किन्तु पिता एभल खाचर के आग्रह से बोटाद के खोड़ा धाधल के साथ विवाह सज़्पन्न हुआ था । परन्तु उनकी वृज़ि तो भगवान से एक हो गई थी । इसलिए खोड़ा धाधल ने प्रसन्नतापूर्वक उन्हें उनके माता-पिता के पास भिजवा दिया । पुत्री को देखकर पहले तो एभल खाचर को क्रोध आया परन्तु ससुराल की अनुज्ञा-पत्री पढ़कर कुछ बोल नहीं सके । दरबार (महल) में रहकर लाडूबा प्रभु-भज़्ति करने लगीं ।

दादाखाचर के दरबार (महल) को महाराज अपना ही घर मानते थे । दोनों बहनों एवं उनके भाई का महाराज के प्रति गहरा भज़्तिभाव था । वे कभी भी महाराज से दूर नहीं होते थे । बहुत सारे सन्तों के साथ महाराज दरबार में रहते थे । उत्सवप्रेमी महाराज प्राय: उत्सव मनाया करते थे और विभिन्न स्थानों के सन्तों एवं हरिभज़्तों को बुलाया करते थे ।

महाराज के परम प्रिय सन्तों एवं हरिभज़्तों की सेवा समुचित हो इस इच्छा के कारण दादाखाचर अपनी बहनों से प्रार्थना किया करते कि उत्सवों के समय वे प्रबन्ध की देखभाल स्वयं करें ।

जब महाराज को इस व्यवस्था का पता चला, उन्होंने दादाखाचर को बुलाकर कहा : 'दोनों बहनों के एकसाथ काम करने में खींचतान होती है । इसलिए शुज़्ल पक्ष के उत्सवों की व्यवस्था जीवुबा करें और कृष्ण पक्ष के उत्सवों की व्यवस्था लाडूबा करें ।' दोनों बहनें सहमत हो गईं ।

इतने में अन्नकूट का उत्सव आया । लाडूबा ने जीवुबा के पास आकर विनती करी, 'बहन, दशहरे और पूर्णिमा का उत्सव तुमने किया है । शुज़्ल पक्ष का अन्नकूट उत्सव मुझे करने दो ।'

पहले तो जीवुबा ने मना कर दिया और कहा, 'तुम दीवाली का उत्सव करो, इसका तो प्रबन्ध मैं ही करूँगी ।'

इस पर लाडूबा ने समझाया, 'शास्त्र के अनुसार अन्नकूट दीवाली का ही एक भाग है ।'

जीवुबा अन्नकूट उत्सव का प्रबन्ध लाडूबा कर ले इसके लिये मान गईं । दोनों बहनें सेवा के लिए एकदूसरे से आगे रहना चाहती थीं ।

लाडूबा ने कठिन परिश्रम किया और अपनी सखियों की सहायता से स्वादिष्ट अन्नकूट तैयार किया । महाराज मूर्ति में से प्रकट हुए और थाल ग्रहण कर और थाल में रखे सभी व्यंजनों की खूब प्रशंसा की । बाद में सन्तों को पंज़्ति में बैठाकर महाराज ने अपने हाथ से परोसा ।

अगले दिन जीवुबा, लाडूबा, राजबा, सुरबा आदि बहुत सारी महिलाओं ने कमरे में सभा की तो अचानक उस कमरे में प्रकाश फैल गया । उस तेज से एक देवी प्रकट हुई । तब स्त्रियों ने महाराज से पूछा, 'यह कौन है ?'

महाराज ने उज़र दिया, 'भज़्तिमाता । तुम लोग उनसे पूछो कि ज़्या वे यहाँ रुकेंगी ।'

जब महिलाओं ने उन देवी से पूछा तो उन्होंने उज़र दिया, 'अन्नकूट के उत्सव पर तुज़्हारी भज़्तिमयी सेवा से मैं इतनी अधिक प्रसन्न हुई कि मैं स्वयं यहाँ अपने प्रत्यक्ष दर्शन तुज़्हें देने के लिए चली आई ।'

जब उन महिलाओं ने देवी को अपने साथ रहने को कहा, तब उन्होंने उज़र दिया, 'मैं पतिव्रता हूँ, यदि तुम धर्म-नियम का पालन सुन्दर रीति से करो तो मैं यहाँ रह सकती हूँ ।'

यह सुनकर महिलाओं ने कहा, 'हम धर्म-नियम का पालन करेंगी ।'

इस पर भज़्तिमाता ने कहा, 'तो मैं भी अपने पुत्र श्रीजीमहाराज के साथ यहाँ रहूँगी ।' ऐसा कहकर भज़्तिमाता अन्तर्धान हो गईं ।

महाराज दोनों बहनों के यहाँ भोजन करते थे । यदि वे जीवुबा के घर अधिक खा लेते तो लाडूबा दु:ख अनुभव करतीं और यदि वे लाडूबा के यहाँ अधिक जीम लेते तो जीवुबा उपेक्षित अनुभव करतीं । ये दोनों बहनें अपने भज़्ति-भाव से एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करती रहतीं ।

इसलिए महाराज महीने के प्रथम पक्ष में जीवुबा के यहाँ और महिने के दूसरे पक्ष में लाडूबा के यहाँ भोजन करने लगे । उसमें भी महीने में तिथि की घट-बढ़ होती तब इन बहनों में असंतोष पैदा हो जाता कि मेरी बारी में तिथि ज़्यों घटी ?

तब महाराज ने दस दिन एक के यहाँ और अगले दस दिन दूसरी बहन के यहाँ भोजन करना प्रारज़्भ किया । इससे दोनों बहनें सन्तुष्ट हुईं ।

एकबार लाडूबा को संशय हुआ, 'ज़्या यह सत्य है कि दुर्वासा ने गोपियों द्वारा ले जाए गए सभी खाद्य पदार्थ स्वयं अकेले ही खा लिये थे ?' उन्होंने यह प्रश्न महाराज से किया ।

महाराज ने उज़र दिया, 'शास्त्र में जो लिखा है वह सत्य है, सत्य के अतिरिज़्त कुछ नहीं है, किन्तु इसका उज़र हम तुज़्हें किसी और दिन देंगे ।'

कुछ दिनों के पश्चात् लाडूबा ने तीस हरिभज़्तों के साथ महाराज को जीमने के लिए बुलाया । महाराज ने सच्चिदानन्द स्वामी को पहले जीमने के लिए भेजा, ज़्योंकि उन्हें खेत की देखभाल करने जाना था । लाडूबा ने स्वामी को भोजन परोसना प्रारज़्भ किया । उन्होंने धीरे-धीरे खाना प्रारज़्भ किया और सबके लिए जितना बना था सब चट कर गये । तो भी भूखे रहे । अत: लाडूबा ने बाजरे की रोटी बनाई और उन्हें परोसी, परन्तु स्वामी तो और माँगते ही रहे । तब लाडूबा ने महाराज को कहलवाया ।

महाराज ने कहलवाया, 'अब इन्हें पानी परोसो ।' तब स्वामी ने भोजन के पश्चात् का आचमन किया । महाराज ने लाडूबा को दुर्वासा की घटना का स्मरण कराया और उनकी शंका का निवारण कर शास्त्रों की सत्यता स्थापित की ।

प्रतिदिन सवेरे नियम से लाडूबा महाराज को दूध पिलाती थीं । उन्होंने

एक दिन सवेरे कटोरा भरकर दूध महाराज को दिया । महाराज को दूध में दुर्गंध आती हुई लगी, इसलिए उन्होंने दूध नहीं पिया और कहा, 'भैंस ने लहसुन खाया है, इसलिए दूध में उसकी दुर्गंध आ रही है । यदि तुम मुझे दूध पिलाना चाहती हो तो भैंस को घर में बाँधकर रखो, उसे यहीं पानी, चारा दो, इसे बाहर चरने मत भेजो । तभी हम उस भैंस का दूध पियेंगे ।'

तब लाडूबा ने उस भैंस को महाराज के कथनानुसार घर में रखकर, पानी, चारा देना प्रारज़्भ किया । इस रीति से उन्होंने महाराज की सेवा की ।

तेजा ठज़्कर गढ़पुर में नई भैंस लाये थे । उन्होंने बटलोई भरकर दूध अपनी पत्नी के हाथ दरबार में भिजवाया, साथ में लाडूबा से प्रार्थना की कि वे इसे महाराज को पिलाए । महाराज ने वह दूध पिया, उन्हें वह दूध बड़ा स्वादिष्ट लगा । इस पर लाडूबा ने सोचा कि महाराज को दूध पिलाने के लिए यदि वह भैंस हमारे पास रहे तो कैसा अच्छा रहे ?

जब तेजा ठज़्कर महाराज को वन्दना करने आये, तब महाराज ने दूध की प्रशंसा की और भैंस को देखने के लिये उनके घर गये । तब महाराज ने तेजा ठज़्कर से पूछा कि ज़्या वह इस भैंस को १०० रुपये में बेच सकते हैं ।

तेजा ठज़्कर तैयार हो गये । महाराज ने उनसे पूछा कि तब तुज़्हारे बच्चे ज़्या पिएँगे ? तेजा ठज़्कर ने उज़र दिया कि मैं दूसरी खरीद लाऊँगा । लाडूबा ने प्रसन्नता से उस भैंस के १०० रुपये दे दिये और भगुजी वहाँ जाकर भैंस को ले आये ।

जब भी महाराज गढ़पुर से बाहर जाते थे, दोनों बहनें, जीवुबा-लाडूबा और दादाखाचर उदास हो जाते थे । उन्होंने व्रत ले रखा था कि महाराज के दर्शन करने के पश्चात् ही भोजन करेंगे । इसलिए महाराज ने वासुदेव नारायण की मूर्ति स्थापित की और उन सबको आज्ञा दी कि देवमूर्ति के दर्शन कर वे भोजन कर लें ।

एकबार लाडूबा-जीवुबा और अन्य महिलाओं ने महाराज से आग्रह किया कि उन्हें भी अपने साथ बाहर ले चलें । महाराज ने अपने साथ ले जाने से मना कर दिया । अपनी घोड़ी पर बैठकर अन्य काठियों के साथ चल दिये, परन्तु माणकी घोड़ी उन्हें गाँव की सीमा से दरबार में वापस ले आई । महाराज और अन्य घुड़सवारों ने बहुत प्रयत्न किया कि घोड़ी आगे

बढ़े किन्तु वह आगे बढ़ी ही नहीं । वह थोड़ा सा आगे बढ़कर पीछे लौट आती । इस तरह से घोड़ी तीन बार वापस लौट आई ।

तब महाराज ने कहा, 'इन्होंने घोड़ी की वृज़ि खींच रखी है ।'

फिर महाराज ने उन महिलाओं को साथ चलने की आज्ञा दी तब माणकी घोड़ी आगे बढ़ी और वे वरताल पहुँचे । प्रेमानन्द स्वामी ने इस पर भजन की रचना की ।

'माणकीए चढ्या रे मोहन वनमाळी... नथी जाती दरबारमांथी घोड़ी... '

एकबार महाराज लाडूबा के यहाँ भोजन करने गये । परोसते समय लाडूबा ने हाथ जोड़कर विनम्रता से पूछा, 'महाराज ! कृष्ण अवतार में आपको कौन खिलाता था ? कौन नहलाता था ?'

महाराज जोर से हँस पड़े और बोले : 'तुमने हमें पहचाना नहीं । हम सभी अवतारों के अवतारी हैं । हम पहले पृथ्वी लोक में कभी नहीं आये और अब स्वयं साक्षात् आयेंगे भी नहीं ।'

सर्दियों के दिन थे । महाराज अक्षर ओरड़ी में पलंग पर लेटे हुए थे, उनके सामने एक अंगीठी जल रही थी । मूलजी ब्रह्मचारी और नाजा जोगिया भी वहाँ सो रहे थे । अचानक महाराज के ओढ़ने के लिहाफ का एक कोना अंगीठी में पड़ गया वह जल उठा । महाराज की नींद खुल गई और उन्होंने सेवकों को जगाया । जब महाराज ने जले हुए लिहाफ को देखा, उन्होंने कहा : 'यह लिहाफ तो जल गया । अब हम इसका ज़्या जवाब देंगे ? चुपचाप हमें यहाँ से चल देना चाहिए ।'

नाजा जोगिया अन्दर दरबार (महल) में गये और सारी घटना लाडूबा और जीवुबा को सुना दी । तब दोनों बहनों ने संदेश भिजवाया, 'ऐसी तो बहुत सी गुदड़ियाँ हैं, परन्तु महाराज से मूल्यवान कुछ भी नहीं है ।'

यह सुनकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए ।

उन्होंने कहा : 'हम उनकी गुदड़ी जला देते हैं तो भी उन्हें अभाव नहीं आता ।'

इस अवधि में महाराज ने महिलाओं को अपने दर्शन करने के लिए आने से मना कर रखा था, किन्तु वे अपने प्रति भज़्ति से उनसे बहुत प्रसन्न हो गये और बोले, 'उन्हें दर्शनों के लिये आने दो ।'

तब नाजा जोगिया ने द्वार खोल दिये और उन्हें महाराज के दर्शन करने दिये । महाराज ने उन्हें जली गुदड़ी दिखाई । बहनों ने महाराज के ओढ़ने के लिये नया लिहाफ भिजवा दिया ।

श्रीजीमहाराज अपने भज़्तों को लाड़-लड़ाने के लिए पधारे थे, अत: श्रीजीमहाराज दादाखाचर, जीवुबा और लाडूबा पर अपनी कृपा की अपार वर्षा करते थे और सुखी रखते थे । महाराज ने धाम में लौटने का निश्चय किया । लाडूबा, जीवुबा और जसुबा ने महाराज से अपना निश्चय बदलने की प्रार्थना की ।

महाराज ने यह कहकर सान्त्वना दी, 'हम सत्संग से कभी नहीं जाएँगे । हम हमेशा गोपीनाथजी की मूर्ति में प्रगट रहेंगे और अपने दर्शन देंगे ।'

और महाराज अन्तर्धान हो गये । महाराज के वचनानुसार ये बहनें गोपीनाथजी की त्रिभंगी मूर्ति के स्थान पर महाराज की मूर्ति के दर्शन करतीं । इस प्रकार महाराज ने अपने अनन्य भज़्तों की इच्छा पूरी की और जब तक उनकी साँस रही तब तक अपनी प्रगट मूर्ति के दर्शन दिये ।

स्वामी जागा भक्त

स्वामी जागा भज़्त के पूर्वाश्रम के पिता का नाम राघव भज़्त और माता का नाम रतनबाई था । राघव भज़्त भगवान राम के परम उपासक थे । जब कभी गाँव में रामायण कथा होती, तब राघव भज़्त अपना व्यापार तथा अन्य काम धन्धा छोड़, रामकथा सुनने चले जाते ।

वि.सं. १८८२ (सन् १८२६) में ब्रह्मचारी आनन्दानन्द घूमते फिरते आज़्बरड़ी (जोगीदास खुमाण के) पधारे । पूर्वजन्म के मुज़्त पुरुष राघव भज़्त ब्रह्मचारीजी की ओर आकर्षित हुए । उन्होंने आनन्दानन्दजी से सुना कि श्रीजीमहाराज, पूर्ण पुरुषोज़्तम सर्वोपरि, सब अवतारों के अवतारी हैं और प्रकट रूप में विराजमान हैं । अपार महिमा सुनकर वे श्रीजीमहाराज के भज़्त बन गये और उनसे वर्तमान लेकर दृढ़ श्रद्धालु बन गये ।

उनका हृदय भज़्तिभाव से रंग गया । वे बार-बार गढ़ड़ा जाते और नन्द सन्तों का समागम करते । श्रीजीमहाराज में उत्कट भज़्ति भावना से प्रेरित होकर *'श्रीसहजानन्द महाराज हरि, जाशो मा पळ एक विसरी...'* यह कीर्तन रचा, श्रीजीमहाराज की दिनचर्या और दूसरी लीलाओं का विस्तार से वर्णन किया । आनन्दानन्द स्वामी इस रचना से बहुत प्रसन्न हुए और कहा, 'राघव भज़्त ! तुम तो पूर्वजन्म के संस्कारी मुज़्त हो, और तुज़्हारे यहाँ अक्षरधाम का मुज़्त जन्म लेगा ।'

इस आशीर्वाद के फलस्वरूप जागा भज़्त ने आज़्बरड़ी गाँव में इस पवित्र राठोड़ कुटुज़्ब में वि.सं. १८८३ (सन् १८२७) आसो वद २, सोमवार को जन्म लिया ।

बाल्यकाल से ही जागा भज़्त शांत स्वभाव के थे । सांसारिक पदार्थों और विषयों की ओर उनकी सहज ही अरुचि थी । सवेरे ब्रह्म मुहूर्त में उठते, नहाते, पूजा करते और बालमित्रों के साथ ध्यान-भजन का आनन्द लेते ।

वि.सं. १८६५ (सन् १८०९) में जागा भज़्त की भेंट बड़ें परमानन्द

स्वामी जागा भज़्त

स्वामी से हुई । सत्संग की महिमा और श्रीजीमहाराज के प्रगट होने की बातें सुनकर उन्हें बहुत आनन्द हुआ ।

अपने काम धंधे के कारण राघव भज़्त आज़्बरड़ी छोड़कर बाढ़ड़ा में बस गये । चौदह वर्ष की कम आयु में ही जागा भज़्त का विवाह हामापर की अमरबाई के साथ हो गया था । तो भी जागा भज़्त की वृज़ि संसार से विरज़्त ही रही ।

पन्द्रहवें वर्ष में जागा भज़्त बहुत बीमार हो गये । उनके प्रियजन सोचने लगे कि बस अब जीवन के अन्तिम दिन हैं, किन्तु श्रीजीमहाराज ने दर्शन देकर कहा, 'तुमने तो हमारी इच्छा से देह धारण की है, इसलिए कुछ ही दिनों में अच्छे हो जाओगे, चिन्ता मत करो ।'

वे शीघ्र ही अच्छे भी हो गये । इस छोटी सी घटना से जागा भज़्त सबके आदरणीय हो गये । श्रीजीमहाराज बहुत बार उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर अलौकिक सुख देते थे ।

धीरे-धीरे जागा भज़्त बड़े हुए । गढ़ड़ा, वरताल में उत्सवों में जाने लगे । वरताल में उनकी भेंट गोपालानन्द स्वामी से हुई । उनका समागम कर उनका हृदय जीत लिया ।

वि.सं. १९०३ (सन् १८४७) में जागा भज़्त वरताल पधारे थे । महुवा से प्रागजी भज़्त और जीणाभाई भी आये थे । रात के बारह बजे तक भजन-कीर्तन करने के बाद सब सो गये । उस समय, ये तीनों हरिभज़्त गोपालानन्द स्वामी के पास पहुँचे और हाथ जोड़कर प्रार्थना की, 'हे स्वामी ! कृपया हम पर दया करो, हमें ऐसा उपाय बताओ कि हम आपसे और श्रीजीमहाराज से क्षण के लिए भी पृथक् न हों ।'

तब गोपालानन्द स्वामी ने चारों दिशाओं में देखा और कहा, 'श्रीजीमहाराज सर्व अवतारों के अवतारी पूर्ण पुरुषोज़मनारायण हैं और गुणातीतानन्द स्वामी (जो यहाँ सो रहे हैं) श्रीजीमहाराज के रहने के धाम हैं, यह समझो और धामरूप अक्षरब्रह्म का समागम कर अक्षररूप होकर पुरुषोज़मनारायण की उपासना करो । यदि तुम इतना भी कर सकते हो तो तुज़्हारे गृहस्थी अथवा त्यागी होने या न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता । तुम लोग कभी भी मेरे से या श्रीजीमहाराज से दूर नहीं रहोगे ।'

इस प्रकार प्रथम बार उन्होंने गोपालानन्द स्वामी से गुणातीतानन्द स्वामी की महिमा सुनी ।

वि.सं. १९०८ (सन् १८५२) में गोपालानन्द स्वामी अक्षरधाम चले गये । जागा भज़्त का गोपालानन्द स्वामी के प्रति अतिशय लगाव हो गया था । जब उन्होंने स्वामी के अक्षरधाम चले जाने के समाचार सुने, वे बहुत शोकाकुल हो गये और उन्हें ज्वर आ गया । रात को गोपालानन्द स्वामी के उन्हें दर्शन हुए और उन्होंने कहा, 'हमने तुमसे कहा था, यदि तुम त्यागी बनने की इच्छा रखते हो तो जूनागढ़ जाओ ।' इतना कहकर स्वामी अदृश्य हो गये । जब सुबह को जागा भज़्त जागे तो उन्होंने घर छोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया ।

वि.सं. १९०९ (सन् १८५३) में उन्होंने घर छोड़ दिया और जूनागढ़ चले गये । जागा भज़्त जूनागढ़ आये और गुणातीतानन्द स्वामी से सब बातें बता दीं । गुणातीतानन्द स्वामी उनकी बातें सुनकर बहुत प्रसन्न हुए । किन्तु उनके पिता राघव भज़्त उनको खोजते हुए गढ़ड़ा पहुँचे । गढ़ड़ा में जागा भज़्त नहीं मिले तो उन्होंने जूनागढ़ जाने का निश्चय किया । गढ़ड़ा के महन्त महापुरुषदासजी ने आचार्य रघुवीरजी महाराज के प्रति सिफारिशीपत्र लिख दिया । वे इस पत्र को जूनागढ़ ले गये । स्वामी ने तुरन्त जागा भज़्त से कहा, 'जागा भज़्त ! तुज़्हारा निमन्त्रण पत्र आया है ।'

यह सुनकर जागा भज़्त चज़्कर में पड़ गये । परन्तु उनका तो दृढ़ निश्चय था कि गृहस्थ जीवन में नहीं पड़ेंगे । तब स्वामी ने समझाया, 'इस समय तो घर लौट जाओ ।'

जागा भज़्त के मन में तुरन्त एक विचार कौंधा, आचार्य महाराज को जब सारी बात का पता चलेगा, तब बहुत सारी समस्याएँ खड़ी हो जाएँगी जो नियन्त्रण से बाहर हो जाएँगी । इसलिए, उन्होंने स्वयं ही अपने पिता को सुझाव दिया, 'आप मुझे वापस ले जाने के लिए आये, यह तो बहुत अच्छा किया । मैं तो कई दिन से आपकी प्रतीक्षा ही कर रहा था । चलो, आपके साथ घर चलता हूँ । मैं घर पर ही भगवान का भजन करूँगा ।'

जब राघव भज़्त ने आचार्य महाराज के पत्र के विषय में कहा तो जागा भज़्त ने कहा, 'अब पत्र को देकर ज़्या करना है, जब मैं आपके साथ चल ही रहा हूँ ?' और उन्होंने वह पत्र लेकर फाड़ दिया । राघव भज़्त जूनागढ़ दो दिन ठहरे, स्वामी की आज्ञा लेकर जागा भज़्त के साथ घर लौट गये ।

रास्ते में खारचिया गाँव में रात को रुके । रात को जब वे गहरी नींद में सो रहे थे, मणिधर सर्प छप्पर से नीचे उतरा । जागा भज़्त ने उसकी ओर मुड़कर कहा, 'अपने रास्ते जाओ ।' मणिधर सर्प चुपचाप वहाँ से चला गया ।

उनके माता-पिता और उनकी पत्नी अमरबाई के मन में जागा भज़्त के प्रति बड़ा अहोभाव था । मणिधर सर्प की घटना से वह और गहरा हो गया । उनकी पत्नी अमरबाई ने विचार किया, 'वे त्यागी बनना चाहते हैं, मैं ही उनके रास्ते का रोड़ा हूँ ।'

एक दिन अपने ससुर राघव भज़्त की उपस्थिति में ही जागा भज़्त से कहा, 'मेरी कोई भूल हुई हो तो मुझे क्षमा करना । आपको त्यागी बनने के लिए मैं सहर्ष अपनी अनुमति देती हूँ, और मैं भी सांज़्ययोगी का जीवन जीऊँगी, वर्तमानों का पालन करते हुए श्रीजीमहाराज का भजन करूँगी ।'

यह सुनकर राघव भज़्त के हृदय में प्रसन्नता उमड़ने से कंठ भर आया । तब उन्होंने एक रहस्य की बात कही, 'एक समय गोपालानन्द स्वामी ने परोक्ष रूप से मुझसे कहा था कि तुज़्हारा पुत्र अनन्त जीवों का उद्धार करेगा ।'

थोड़ी देर में वे पुत्र से बोले, 'तुम भगवान के परम भज़्त हो, अत: यदि तुम त्यागी बनना चाहते हो तो बेटा खुशी से जूनागढ़ जाओ, परन्तु पुत्र ! हमारी यह विनम्र प्रार्थना है हमारे देहत्याग के समय श्रीजीमहाराज आकर हमें अपने धाम में ले जाएँ ।'

इस प्रकार अपने सभी प्रियजनों से विदा लेकर जागा भज़्त जूनागढ आये । दीक्षा लेकर स्वामी की सेवा में रहने लगे ।

वि.सं. १९१० (सन् १८५४) की सर्दियों में आचार्य श्री रघुवीरजी महाराज जूनागढ़ पधारे । सांखड़ावदर के चरागाह (घास के मैदान) में मन्दिर के लगभग अस्सी हजार पूले चारे के पड़े हुए थे । चारे को बचाने की चिन्ता स्वामी को थी । इसलिए स्वामी ने कुछ हरिभज़्तों को सांखड़ावदर जाकर रहने को कहा । परन्तु कौन जाता जबकि नित्य सभा चल रही थी और स्वादिष्ट भोजन बन रहे थे, ज़्योंकि आचार्य महाराज पधारे हुए थे ।

जब स्वामी ने जागा भज़्त से पूछा, 'ज़्या तुम सांखड़ावदर जाओगे ?'

जागा भज़्त ने विनम्रता से कहा, 'हे स्वामी ! मुझे तो आप 'जाओ' ऐसा कहकर सीधे आज्ञा दें । मैं आपका सेवक हूँ, अत: मेरे लिए आपकी आज्ञा ही समैया (उत्सव समारोह) है ।'

स्वामी की आज्ञानुसार जागा भज़्त ने एक सहायक साथ लिया और सांखड़ावदर के चरागाह के लिए चले गये ।

आचार्य महाराज जूनागढ़ में सत्रह दिन रुके । जागा भज़्त ने स्वामी की अनुवृज़ि का पालन किया, सांखड़ावदर में चारे की रक्षा करने के लिए सच्चे सेवाभाव से रहे । वहाँ श्रीजीमहाराज ने जागा भज़्त को अपने अखंड दर्शन दिये और खूब आनन्द की अनुभूति कराई । स्वामी ने जाते समय उनसे कहा, 'हम जो जो आज्ञा करते हैं उसमें हम भगवान की मूर्ति भी देते हैं ।' इस तरह जागा भज़्त को महाराज की मूर्ति का सुख मिला ।

जब रघुवीरजी महाराज जूनागढ़ से जानेवाले थे, स्वामी ने अपने दो सेवकों को भेजकर जागा भज़्त को बुलवाया । जब वे जागा भज़्त का परिचय रघुवीरजी महाराज से करवा रहे थे, तब स्वामी ने कहा : 'इन जागा भज़्त ने हमारी आज्ञा के पालन में उत्सव के दर्शन का लोभ छोड़ दिया और सत्रह दिन तक सांखड़ावदर के घास के मैदान में मन्दिर के चारे की रखवाली करते रहे ।'

यह बात सुनकर आचार्य महाराज बहुत प्रसन्न हुए और उनके हृदय पर चरणारविन्द की छाप लगाई और कहा, 'स्वामी को प्रसन्न करके तुमने स्वयं श्रीजीमहाराज को प्रसन्न कर लिया है । इन दोनों में तुम कोई भेद मत करना ।'

तब स्वामी ने कहा, 'ये जागा भज़्त हमारा सच्चा सेवक हैं, अन्यथा साधारण व्यज़्ति ऐसी कठोर आज्ञा का पालन नहीं कर सकता था ।'

एक दिन जागा भज़्त अपने अन्तर में तनिक उदास हो गये । स्वामी के पास आकर बोले, 'चूँकि मेरा जन्म देर से हुआ है, मैं महाराज के दर्शन नहीं कर पाया और न ही मुझे महाराज की मूर्ति का सुख मिला, इसलिए मेरे मन में उदासी छायी रहती है ।'

स्वामी ने कहा : 'महाराज की मूर्ति से चार सुख प्राप्त कर सकते हैं । दर्शन, प्रसादी, वातुं (गोष्ठि) एवं मिलन । आज से ये चारों सुख तुज़्हें देता हूँ । तुम श्रीजीमहाराज का आकार तो देख नहीं सकते हो किन्तु श्रीजीमहाराज इस स्वरूप द्वारा अखंड प्रगट हैं ।'

इस बात को सुनकर जागा भज़्त बहुत ही प्रसन्न हो गये और निश्चय हो गया कि महाराज कभी सत्संग से दूर नहीं होते । उनकी उदासीनता तिरोहित हो गई ।

एक बार स्वामी और उनके शिष्य सन्त बाबरियावाड़ में बारपटोली जा रहे थे । स्वामी गाड़ी में बैठे थे । जागा भज़्त और कुछ सन्त जूनागढ़ से वरताल जा रहे थे । वे सभी यहाँ मिल गये । संतों ने स्वामी को पुष्पहार पहनाये । स्वामी सभी से भेंटे । किन्तु बातें केवल जागा भज़्त से ही कीं । वह भी नेत्रों के माध्यम से, और पूछा, 'अन्तर में आनन्द ही आनन्द है न ?'

जूनागढ़ में स्वामी ने जागा भज़्त को एक बार सज़र बार आलिंगन किया था और एक बार एक महीने में चालीस बार आलिंगन किया था । किन्तु पूर्व के सभी आलिंगनों से इस नेत्रमिलन के द्वारा अधिक सुख की अनुभूति उन्हें हुई ।

यहाँ स्वामी ने दोपहर की सभा में योगेश्वर स्वामी से वचनामृत गढ़ड़ा प्रथम प्रकरण का ६१वाँ पढ़वाया और कहा : 'भगवान के हरिभज़्त इस संसार में दु:ख इसलिए पाते हैं ज़्योंकि यह संसार स्वयं दु:खदायी है ।' ऐसा कहकर स्वामी ने जागा भज़्त से कहा, 'तुज़्हें जो दु:ख आता है, वह तो लोग तुज़्हें देते हैं ज़्योंकि वे जानते हैं कि तुम मेरे हो । किन्तु यदि तुम मेरे नहीं रहोगे, तो तुज़्हें कोई कुछ कहेगा नहीं । यह वचनामृत अपना बनाकर रखना ।'

जागा भज़्त सुनकर गद्‌गद हो गये । उन्होंने स्वामी से कहा, 'हे स्वामी ! मैं जानता हूँ कि आपके तो श्रीजीमहाराज हैं, मैं आपका नहीं हूँ तो भी आप अपना मानकर मेरी देखभाल करते हैं । तो मुझे निभा लेना ।' उनके ऐसे दीन वचन सुनकर स्वामी प्रसन्न हो गये ।

तत्पश्चात् स्वामी ने कहा : 'दूसरे तुज़्हें प्रतिदिन टोकें, यह मुझे अच्छा नहीं लगता है, अत: तुम जूनागढ़ जाओ ।'

जागा भज़्त ने उज़र दिया, 'स्वामी ! दूसरे ज़्या कहते हैं मैं इस पर ध्यान नहीं देता । मैं जानता हूँ कि कुछ लोग मुझे दु:ख देना चाहते हैं

ज़्योंकि यह लोक दु:खरूप है । यह शरीर भी दु:खरूप है इसलिये अनेक दु:खों का कारण मैं स्वयं हूँ । कितने ही दु:ख तो रजोगुण व तमोगुण की लहर उठने से, मेरे उनकी पकड़ में आ जाने से, प्रकट होते हैं । इसलिए, यदि कोई दु:ख है तो वह मेरे शरीर व स्वभाव को प्रभावित करते हैं परन्तु मेरी आत्मा को तो कोई दु:ख होता नहीं । मैं तो आपकी अनुवृज़ि के अनुसार रहता हूँ ।'

इस पर स्वामी ने कहा, 'यदि तुमने अपने सेवकों की इस प्रकार की समझ बना रखी है, तो हमारे साथ रहो । हमें तुज़्हारे संग से कोई आपज़ि नहीं है ।'

उनके जूनागढ़ रहते समय, स्वामी ने जागा भज़्त के ऊपर दर्शन, प्रसादी, गोष्ठि और मिलन इन चार प्रकार के सुखों की अपार कृपा की । स्वामी के धाम चले जाने के पश्चात् जागा भज़्त जूनागढ़ में ही रहते रहे । वे स्वामी के समागम में चौदह वर्ष छ: महीने रहे ।

स्वामी जूनागढ़ और सोरठ क्षेत्र के हरिभज़्तों से लगभग चालीस वर्ष तक समागम कर बातें करते रहे । जब जागा भज़्त शिष्य बने तो वे स्वामी की बातों को लिखते रहे जो कि 'स्वामी की बातें' नाम की पुस्तक के तीसरे प्रकरण से प्रसिद्ध हुई हैं । गुणातीतानन्द स्वामी का अभिप्राय बताने के लिए ये बातें उज़म साधन हैं, मुमुक्षु के लिए अमूल्य निधि हैं और हरिभज़्तों के हृदय में ब्रह्मभाव करने के लिए ये बातें अनोखी हैं ।

जागा भज़्त आचार्य महाराज की आज्ञा से जूनागढ़ क्षेत्र में संतों का मण्डल लेकर विचरण करने जाया करते थे । इस प्रकार सोरठ क्षेत्र के हरिभज़्तों के साथ वर्षों तक कथावार्ता की और उन्हें भगवान का अपार सुख दिया । गुणातीतानन्द स्वामी की बातों की तरह ही उनकी बातों ने भी सोरठ क्षेत्र के हरिभज़्तों को परमानन्द का अनुभव कराया, सत्संग की दृढ़ता कराई और बहुतों को समागम मिला । बालमुकुन्द स्वामी, कृष्णचरण स्वामी, माधवचरण स्वामी, माधवप्रिय स्वामी, नारायणचरण स्वामी और अन्य सन्त गाँवों में विचरण के समय आदर सहित उनको अपने साथ विचरण करवाते । उनके उपदेश की शैली सादी परन्तु तर्कयुज़्त हृदय में उतरनेवाली थी । गाँव के साधारण जन भी उनकी बात समझ जाते थे । अमीर हो या गरीब, युवा

हो या बूढ़ा वे सरलता से हृदय-परिवर्तन करा लेते थे । श्रीजीमहाराज सब अवतारों के अवतारी तथा सर्व कारणों के कारण पूर्ण पुरुषोज़म हैं तथा गुणातीतानन्द स्वामी श्रीजीमहाराज के परम आदर्श भज़्त तथा महाराज के रहने के धाम हैं, यह निष्ठा दृढ़ करवाकर अनेकों को मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर करते । उनका परिशुद्ध चरित्र एवं वर्तन त्यागियों के लिए भी अनुकरणीय था । यद्यपि वे पार्षद वर्ग के थे, वे अष्टांग ब्रह्मचर्य का पालन करते थे । उनका स्त्री और धन से दूर का नाता भी नहीं था । बीमारी के अवसरों को छोड़कर वे केवल एक बार भोजन करते थे, वह भी सबके साथ पंज़्ति में बैठकर । वे मन्दिर में पाँचों समय की कथा में उपस्थित रहते थे और बैठे हुए मुमुक्षुओं से बातें करके उन्हें आनन्द प्रदान करते थे ।

स्वामी जागा भज़्त अत्यन्त विनीत प्रकृति के थे । कथा-प्रसंगों में वे कहते, 'दूसरों की क्रिया, दूसरों का रूप-रंग और दूसरों के दोष कभी मत देखो ।'

उनके लिए सभी संतों, हरिभज़्तों की महिमा अपार थी और वे सबको स्वामी स्वरूप देखते थे । शास्त्रीजी महाराज के पास अक्षरपुरुषोज़म उपासना वाले निष्ठावान गुजरातभर के उन्होंने हरिभज़्तों की एक सूची लिखवाई थी । वे पूजा के तुरन्त पश्चात् उनके नामों का पाठ करते थे । सत्संगियों के प्रति उनका ऐसा महिमामय भाव था ।

वे कहते थे, 'अवगुण देखने का मन करे तो अपनी देह, जाति और स्वभाव के अवगुण देखो, परन्तु भगवान के भज़्तों के अवगुण मत देखो । मैं स्वामी के साथ रहा परन्तु किसी भी दिन मैंने उन्हें लाचार (गर्ज़ के मारे पराधीन) नहीं बनने दिया । इस तरह सत्पुरुष को लाचार न बनाओ, किन्तु उनके अनुगृहीत-पराधीन होकर रहो ।' वे हमेशा कहा करते थे, 'संत समागम करो, जड़-चेतन का विवेक समझो, झूठा अभिमान छोड़ दो, पंचविषय, देहाभिमान छोड़ दो, गलत पक्ष छोड़ दो, भगवान का स्वरूप समझो और ब्रह्म होकर परब्रह्म की उपासना करो ।'

उनकी महिमा चतुर्दिक फैली और परिणामस्वरूप बहुत सारे शिष्य उनके आसन (रहने के स्थान) पर समागम के लिये आते । नागर ब्राह्मण, लोहाणा, कनबी-किसान, कड़िया, गरासिया आदि सब जाति के हरिभज़्त

उनके समागम का लाभ लेते और उनमें वे उज़म गुरुभज़्ति रखते । द्वेषी लोगों ने उनकी प्रतिष्ठा से जलभुनकर प्रवाद फैलाया कि उनके शिष्य तो उन्हें भगवान समझते हैं ।

इस बाबत एक नागर हरिभज़्त ने सीधे उनसे प्रश्न किया । उन्होंने उज़र दिया, 'भगवान तो एक सहजानन्द स्वामी हैं मुमुक्षु उनसे और अक्षरब्रह्म गुणातीतानंद स्वामी से समागम करके सन्त और भज़्त बनते हैं और एकान्तिक स्थिति प्राप्त करते हैं, लेकिन भगवान तो कोई बन ही नहीं सकता ।'

जब गुणातीतानन्द स्वामी जीवित थे, भगतजी महाराज नि:संकोच उपदेश करते थे, 'गुणातीतानन्द स्वामी मूल अक्षर हैं, श्रीजीमहाराज को रहने का धाम है ।'

इस शुद्ध उपासना के प्रवर्तन में स्वामी जागा भज़्त का योगदान भी अमूल्य है । उन्होंने भी अपने बहुत सारे प्रिय सन्तों एवं हरिभज़्तों से ये रहस्यमय बातें की थीं । इस तरह अक्षरपुरुषोज़म की उपासना का उद्घोष गुजरात और काठियावाड़ में इस समय हुआ ।

वि.सं. १९५३ (सन् १८९७) जूनागढ़ में जन्माष्टमी महोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया । भगतजी महाराज और जागा भज़्त बहुत वर्षों के पश्चात् एक-दूसरे से मिले थे । दोनों ने गुणातीतानन्द स्वामी के समय के बहुत सारे स्मरणीय प्रसंगों का स्मरण कर खूब आनन्द लिया । हरिभज़्तों को भी बहुत आनन्द आया । सत्संग में अपार उत्साह को देखकर, जागा भज़्त ने सोचा कि अक्षरपुरुषोज़म की मूर्ति स्थापित करने का यही सुन्दर अवसर है । इससे सभी संशयों एवं सन्देहों का अन्त हो जाएगा ।

उन्होंने आचार्य महाराज के विश्वासपात्र शास्त्रीजी महाराज के द्वारा आचार्यश्री विहारीलालजी महाराज को सन्देशा भिजवाया, 'आप यदि अक्षरपुरुषोज़म की युगल मूर्ति को स्थापित करें और अक्षरपुरुषोज़म की महिमा का गान करनेवाला ग्रन्थ बनायें तो महाराज आपको दो महापुरुष जैसे पुत्र देंगे ।'

विहारीलालजी नि:संतान थे । जागा भज़्त को विश्वास था कि पुत्रों के लालच में यह बात मान लेंगे । शास्त्रीजी महाराज बात करके लौटे, किंतु उनके पग ढीले थे, तो भी जागा भज़्त ने पूछा, 'ज़्या समाचार हैं ?'

शास्त्रीजी महाराज ने कहा : 'आचार्य महाराज ने मुझसे कहा है कि जागा भज़्त वचनसिद्ध पुरुष हैं, उन्होंने कहा है तो महापुरुष जैसे पुत्र अवश्य होंगे, मैं सचमुच प्राप्त करूँगा, किन्तु इन त्यागियों के सामने मेरी कुछ चलती नहीं है । आपकी इच्छा पूरी करना मेरे वश में नहीं है ।'

जागा भज़्त को ऐसा लगा कि जैसे किसी ने उन्हें गोली मार दी हो और लगभग पन्द्रह मिनट तक बोल नहीं पाये । तत्पश्चात् कहा : 'मैंने सोचा था यदि उनको बेटा दे दें तो अवश्य हमारे प्रस्ताव पर सहमति दे देंगे और हम युगलमूर्ति की स्थापना कर सकेंगे । मुझे बड़ा दु:ख है कि उन्होंने मना कर दिया ।'

थोड़ी देर के बाद जागा भज़्त शास्त्रीजी महाराज से बोले, 'तुम हमारे स्वप्नों को पूरा करोगे नहीं ?

शास्त्रीजी महाराज ने उज़र दिया, 'आप हमारी स्थिति नहीं जानते हैं । यदि हम कोठारी के पास एक पैसे का पोस्टकार्ड माँगने जाते हैं तो कोठारी हजारों प्रश्न करते हैं, 'ज़्या तुज़्हें विवाह की नौबत आई है ? तुमको ऐसा ज़्या काम है ?' एक पैसे के पोस्टकार्ड लेने के लिए तो यह दशा है, तो मन्दिर हम कैसे बनवा सकते हैं ? केवल राजा या आचार्य ही बनवा सकते हैं ।'

इस पर जागा भज़्त एकदम ऐसे बोले जैसे वे समाधि में अथवा किसी अन्य लोक से बोल रहे हों, 'तुम संकल्प न करो तो तुज़्हारी कमी और हम तुज़्हारी सहायता न करें तो हमारी कमी ।'

यह सुनकर शास्त्रीजी महाराज ने कहा, 'आपकी इच्छा पूर्ण की जाएगी ।'

मानों कि शास्त्रीजी महाराज ने शपथ ले ली !, जागा भज़्त बहुत प्रसन्न हुए । इतनी प्रसन्नता हुई कि मानो अक्षरपुरुषोज़म की युगलमूर्ति की स्थापना हो ही गई है ।

वि.सं. १९५४ (सन् १८९८) में जूनागढ़ नवाब के परिवार में विवाह होना था । नवाब ने द्रविड़ देश के कमलनयन शास्त्री को विवाह उत्सव में निमंत्रण देकर बुलवाया हुआ था । सुविधा की दृष्टि और पवित्रता की दृष्टि से वे किसी विद्वान के साथ ठहरना चाहते थे जिससे वे वार्तालाप भी कर सके । ऐसा स्थान स्वामिनारायण मंदिर में था । इसलिए उन्हें मन्दिर में ठहरा

दिया गया । कोठारी जीभाई ने अतिथि का परिचय शास्त्रीजी महाराज से करवा दिया और आप काम से वेरावळ चले गये ।

द्रविड़ शास्त्री स्वामिनारायण मन्दिर के पवित्र वातावरण से तथा स्त्री, काम, क्रोध व लोभ से अलिप्त त्यागी साधुओं के दर्शन कर बहुत ही आनन्दित हुए । उनका कामवेग वहाँ शान्त हो गया । चिज़ में अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ । उन्होंने अपने मन में विचार किया, 'मैं सारे भारत में घूमा हूँ किन्तु मुझे कहीं भी ऐसी दिव्य शान्ति का अनुभव नहीं हुआ । मैं अनेक प्रतिष्ठित मन्दिरों में दर्शन के लिए गया हूँ, परन्तु मुझे ऐसे सन्त कहीं नहीं मिले जो दूसरों में दिव्य शान्ति और आनन्द स्पन्दित कर सकें । यह शान्ति शास्त्री यज्ञपुरुषदासजी के कारण से है । अत: ये अवश्य ही ब्रह्मनिष्ठ हैं । इन्हें कोई महासमर्थ ब्रह्मनिष्ठ गुरु अवश्य मिले होंगे ।'

ऐसा विचार कर उस द्रविड शास्त्री ने शास्त्रीजी महाराज से पूछा, 'हे स्वामीजी ! आपकी बातों में बहुत आनन्द आता है । दूसरे आपके दर्शन से भी बहुत आनन्द आता है । यह आनन्द तो भगवान का है । इसलिए मुझे प्रतीत होता है कि आपको भगवान का या तो किसी महान महात्मा का संग हो गया है । ज़्या आप मुझे भी उस महात्मा पुरुष के दर्शन करवाएँगे ?'

शास्त्री यज्ञपुरुषदासजी परदेशी विद्वान का यह प्रश्न सुनकर थोड़ा विचार में पड़ गये । उन्होंने विचार किया कि शायद ये एकदम जागा भज़्त की दिव्यता को स्वीकार नहीं करेंगे । इसलिए पहले वे सद्‌गुरुओं के पास उन्हें ले गये और उनका प्रत्येक से परिचय कराया और उनके ही सामने उनकी उन्होंने बड़ी प्रशंसा की ।

परन्तु ये शास्त्री तो विलक्षण थे । उन्होंने कहा : 'नि:सन्देह ये सन्त बहुत महान हैं किन्तु आपने अपने गुरु से परिचय नहीं करवाया, जिनके शिष्य होने का सौभाग्य आपको प्राप्त है ?'

तब वे उन्हें सभाभवन में ले गये जहाँ जागा भज़्त बैठे हुए थे ।

स्वामी ने कहा : 'इनकी कृपा से मेरे मन में अखंड शान्ति रहती है । ज़्योंकि ये श्वेताज़्बरी हैं, इसलिए मैं पहले इनके पास आपको नहीं लाया ।'

द्रविड शास्त्री जागा भज़्त से मिलकर बहुत खुश हुए । उन्होंने उनसे संस्कृत में प्रश्न पूछा । शास्त्रीजी महाराज ने गुजराती में जागा भज़्त को

समझाया । तब जागा भज़्त ने गुजराती में उज़र दिया जिसे शास्त्रीजी महाराज ने संस्कृत में अनुवाद करके सुनाया । इस तरह से जागा भज़्त ने वचनामृत गढ़ड़ा प्रथम प्रकरण ५४ और गढ़ड़ा मध्य प्रकरण ५४ पर अपनी व्याज़्या की । द्रविड़ कमलनयन शास्त्री को निश्चय हो गया कि यह सच्चे महात्मा हैं और अपने हृदय में शाश्वत शान्ति का अनुभव किया ।

अद्‌भुत प्रतिभावाले, आत्म-साक्षात्कारी, महान संत जागा भज़्त के कार्यों का अब उपसंहार करते हैं ।

जागा भज़्त लगातार ४८ वर्ष जूनागढ़ मन्दिर में रहे और त्यागाश्रम का जीवन बिताया । गाँव-गाँव घूम फिरकर हजारों व्यज़्तियों को सन्मार्ग पर चलाया और स्वामिनारायण की उपासना का रहस्य समझाया । उनकी दृष्टि हमेशा भूमि की ओर रहती थी । वे एक छोटा कुर्ता पहनते थे और हमेशा घुटने तक की धोती बाँधते और सिर पर लज़्बा साफा । यद्यपि वे पार्षद वर्ग के थे किन्तु किसी साथी के बिना विचरण नहीं करते थे । चलते हुए अपने दाहिने हाथ में माला लपेटे रखते और बाएँ हाथ में छड़ी रखते थे ।

भगतजी महाराज जब धाम में गये, तब शास्त्रीजी महाराज वहाँ उपस्थित नहीं थे, इसलिए शास्त्रीजी महाराज को अन्तिम समय पर उनसे न मिल पाने और सेवा न कर पाने का बहुत दु:ख हुआ । परन्तु उस समय स्वामी जागा भज़्त ने शपथ ली थी कि धामगमन के समय उन्हें सूचना भिजवायेंगे, उन्होंने कहा था, 'अपने अन्त समय मैं तुज़्हें बुलवाऊँगा ।'

वि.सं. १९५७ (सन् १९०१) माह मागशर, जागा भज़्त का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था । डांगरा के हरिभज़्तों ने उनसे डांगरा पधारने की विनती की । वे डांगरा चले गये । परन्तु वहाँ भी उनका स्वास्थ्य नहीं सुधरा । कृष्णजी अदा और अन्य प्रेमी भज़्त राजकोट से वहाँ पहुँच चुके थे । अपने वचनों के अनुसार स्वामी जागा भज़्त ने हरिभज़्तों से कहा कि शास्त्रीजी महाराज को तार भेजकर तुरन्त बुलवाओ ।

शास्त्रीजी महाराज कोठारी प्रभुदास के साथ बोटाद गये हुए थे ज़्योंकि सारंगपुर मन्दिर के लिए लकड़ी लेनी थी । सारंगपुर से एक पार्षद तार लेकर वहाँ गया, जिसमें लिखा था, 'जागा भज़्त गज़्भीर रूप से बीमार हैं और तुज़्हें स्मरण कर रहे हैं । डांगरा तुरन्त पधारो ।'

जब उन्होंने तार पढ़ा तो अपना भावनगर जाने का कार्यक्रम छोड़ दिया और घोड़े पर सेवक को पज़र, पूजा और धोतियाँ लाने के लिए भेजा । एक छोटे साधु को साथ लेकर बोटाद से सीधे डांगरा पहुँचे । स्वामी जागा भज़्त गज़्भीर रूप से रुग्ण थे । उन्होंने अपने कमरे में किसीको भी न आने देने की आज्ञा कर रखी थी, परन्तु यह सूचना दे रखी थी कि शास्त्रीजी महाराज आएँ तो तुरन्त मिलाना । आज्ञा के अनुसार शास्त्रीजी महाराज को तुरन्त उनके पास ले गये । जागा स्वामी तुरन्त खाट पर उठकर बैठ गये । उन्होंने शास्त्रीजी महाराज का बड़े स्नेह से आलिंगन किया । शास्त्रीजी महाराज जानते थे कि स्वामी जागा भज़्त के जीवन का यह अन्तिम चरण है, उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे ।

स्वामी जागा भज़्त ने शास्त्रीजी महाराज को सान्तवना देते हुए कहा, 'मेरा काम पूरा हो गया । अत: महाराज मुझे धाम में वापस बुला रहे हैं । अब तुम अपना काम प्रारज़्भ करो । महाराज और स्वामी तुज़्हारे काम में सहायता करेंगे और सुखी करेंगे ।' ऐसा कहकर शान्ति दी ।

अपने वचन के अनुसार स्वामी जागा भज़्त ने शास्त्रीजी महाराज को दो दिन तक सेवा करने का अवसर दिया । माघ मास की दसवीं की रात्रि को जागा भज़्त अपनी खाट पर उठकर बैठ गये, इस समय वे अपने सभी भज़्तों से घिरे हुए थे, उन्होंने कहा, 'जय स्वामिनारायण' और धाम को चल दिये ।

जागा भज़्त ने अनादि अक्षरब्रह्म श्री गुणातीतानन्द स्वामी की परम भज़्ति से सेवा करने के कारण अपार प्रसन्नता प्राप्त की थी । स्वामी जागा भज़्त के धाम में जाने से सत्संग में बहुत रिज़्तता अनुभव हुई । उनकी नश्वर देह की सभी हरिभज़्तों ने षोडशोपचार पूजा की । तत्पश्चात् शास्त्रीजी महाराज ने आरती पूजन किया । नया वस्त्र और कंठी पहनाई गई, पुष्पों का हार पहनाया । तत्पश्चात् पालकी में शरीर को रखकर गाँव के बाहर जहाँ आज समाधिस्थान है, ले जाकर अग्नि संस्कार किया गया ।

श्री अक्षरपुरुषोज़म की शुद्ध उपासना के प्रवर्तन में स्वामी जागा भज़्त का अमूल्य योगदान था ।

श्री कृष्णजी अदा

श्री कृष्णजी इन्द्रजी व्यास जो कृष्णजी अदा के नाम से विज़्यात थे, वे मेवासा गाँव के मूल निवासी थे । उनके दादाजी मुज़्तराज कड़वा व्यास रामानन्द स्वामी के शिष्य थे । रामानंद स्वामी ने ही उनको पूर्ण पुरुषोज़म सहजानन्द स्वामी का परिचय करवाया था । श्री मुज़्तराज कड़वा व्यास धार्मिक वृज़ि के थे, ज्ञानी थे और ज्योतिष के पंडित थे ।

भगवान स्वामिनारायण के सज़्पर्क में आने के पश्चात् उन्होंने अन्य मंत्रों का त्याग करके 'स्वामिनारायण' महामंत्र को जपना प्रारज़्भ कर दिया था । उज़म कुलोत्पन्न इन्द्रजी व्यास यद्यपि गृहस्थी थे तो भी वे संसार में अनासज़्त भाव से रहते थे । उनके दो पुत्र थे । बड़े का नाम हरजीवनभाई और छोटे का नाम कृष्णजीभाई । कृष्णजीभाई का जन्म वि.सं. १८९० (सन् १८३४) में श्रावण मास की शुज़्ल पक्ष की पंचमी को हुआ था । दोनों भाइयों में बचपन से ही सत्संग के संस्कार थे ।

कृष्णजीभाई का विवाह अमृतवेल के निवासी अजरामर दवे और प्रेमबा की पुत्री लाड़कीबा से हुआ था ।

मेवासा जूनागढ़ से थोड़ी ही दूरी पर है । एक बार ये भाई कुछ सत्संगियों के साथ अक्षरब्रह्म श्री गुणातीतानन्द स्वामी के दर्शन करने के लिए जूनागढ़ आये । उस समय स्वामी की आज्ञा से भगतजी महाराज वहाँ कथावार्ता कर रहे थे । अपने प्रवचन के मध्य, स्वामी का अपरोक्ष संदर्भ देते हुए भगतजी महाराज ने कहा, 'यहाँ जो बैठे हैं वे अक्षरब्रह्म का अवतार हैं ।'

इस प्रकार भगतजी महाराज गुणातीतानंद स्वामी की अपार महिमा की बातें कर रहे थे । 'स्वामी अक्षर हैं । यह समझ लोगे तो अक्षरधाम में जाओगे, नहीं तो नहीं ।'

जब कृष्णजीभाई ने हृदयभेदक महिमामय कथाओं को सुना तो उन्होंने विचार किया ये स्वामी तो घने ज्योतिर्मय हैं । कुछ लोग दज़ात्रेय, जड़भरत

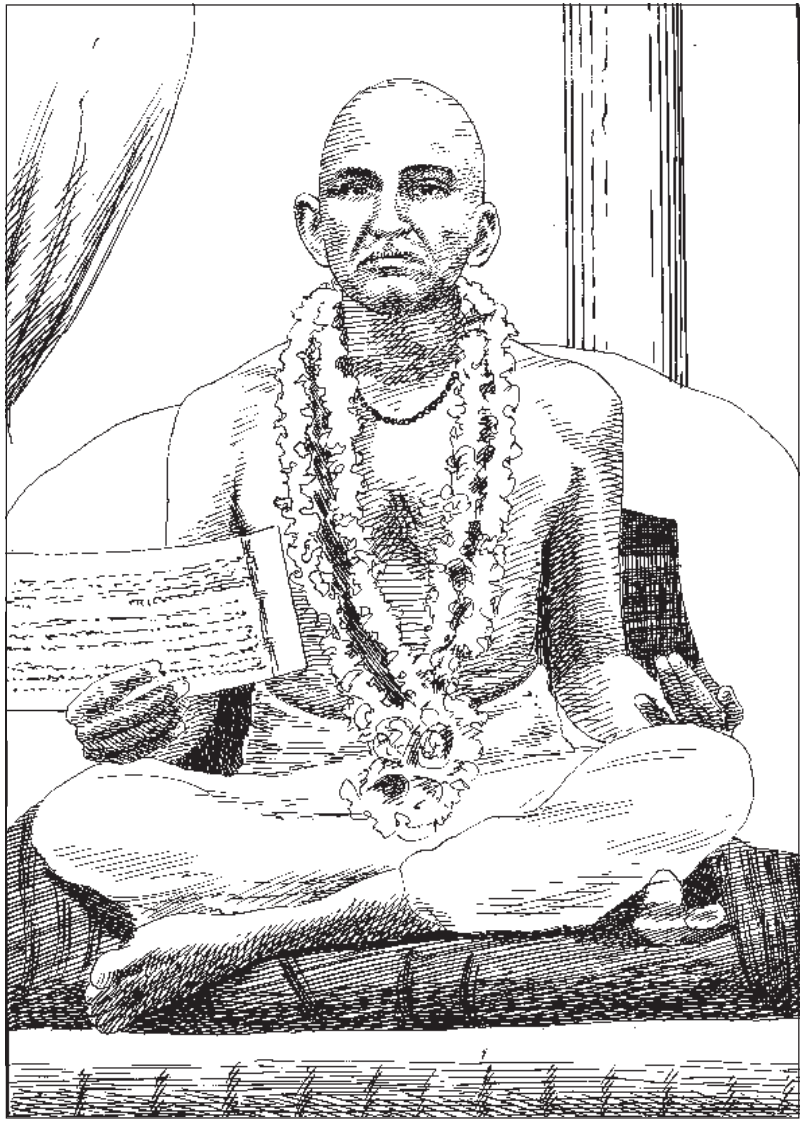

श्री कृष्णजी अदा

एवं ऋषभदेव से उनकी तुलना करते हैं तो इनका वास्तविक स्वरूप ज़्या है ? भगतजी महाराज ने तुरन्त उनके मन की बात जान ली और स्वामी की ओर अंगुलीनिर्देश करते हुए कहा, 'यहाँ जो बैठे हैं वे हैं मूल अक्षर । ये महाराज के रहने के धाम हैं । चलो उनके पास चलें । मैं जो कह रहा हूँ वे उसकी पुष्टि करेंगे ।'

स्वामी ने कहा : 'भगतजी जो कहते हैं वह सत्य है ।' तब मेवासा के हरिभज़्तों का संशय दूर हो गया और स्वामी के सच्चे स्वरूप का निश्चय हो गया ।

कृष्णजीभाई स्वामी के सज़्पर्क में आये उससे कुछ दिन पश्चात् स्वामी ने उनके पिता इन्द्रजीभाई से कहा, 'यहाँ जूनागढ़ में ब्रह्मचारी छोटे हैं । यदि तुम संन्यासी (त्यागी) बन जाओ तो हम तुज़्हें यहाँ रख लेंगे ।'

यूँ तो इन्द्रजीभाई महाराज की आज्ञानुसार प्रतिवर्ष एक माह के लिए स्वामी के साथ रहा करते थे, परन्तु उन्हें अपने बच्चे छोटे होने के कारण चिन्ता रहा करती थी । अत: उन्होंने स्वामी से कहा : 'मेरे परिवार की देखभाल कौन करेगा ?'

स्वामी ने उज़र दिया : 'हम तुज़्हारे दोनों पुत्रों की देखभाल करेंगे । भगवान स्वामिनारायण तुज़्हारा व्यवहार चलाएँगे । अत: सब चिन्ता छोड़ दो । त्यागी बनो और मेरे साथ रहो ।'

इन्द्रजीभाई का स्वामी में बहुत विश्वास था । अपने सिर से सब बोझ उतारकर वे जूनागढ आ गये । आचार्य महाराज ने उन्हें दीक्षा दी । स्वामी ने उनका नाम 'अखंडानन्द' ब्रह्मचारी रखा ।

स्वामी मेवासा में दो बार गये थे । प्रथम बार जब वे गये थे, तब उनका मिलाप कृष्णजीभाई से नहीं हो पाया था ज़्योंकि वे बाहर गये थे । दुबारा स्वामी वि.सं. १९२३ (सन् १८६७) में वंथळी, उपलेटा और धोराजी होते हुए मेवासा पहुँचे । स्वामी को गोंडल पहुँचना था इसलिए शीघ्रता में थे । परन्तु कृष्णजीभाई, हरजीवनभाई, शंकर महाराज, केशवजी लुहार, मेघजी सुथार और झीणा ठज़्कर जो उन्हें अतिशय प्रेम करते थे, उनको मना नहीं कर सके । स्वामी ने उनके साथ भोजन करने का वचन दिया । स्वामी ने उनसे कहा, 'रोटला (मोटी रोटी) तैयार रखना, लड्डू मत बनाना । हमें

कल प्रात: पहर में आएँगे और खाकर आगे चले जाएँगे ।'

अगले दिन बहुत सवेरे स्वामी कंडोरड़ा से निकले और मेवासा पहुँच गये । भज़्तों ने रसोई तैयार कर रखी थी । प्रत्येक संत हरिभज़्त के हिस्से में एक-एक लड्डू तो आये, इतने गिनकर बड़े-बड़े लड्डू बनाये थे । स्वामी जीमने बैठे । लड्डू को रोटले के नीचे ढककर रखा था । जब स्वामी ने इस तरह ढका बड़ा लड्डू देखा तो उन्होंने उनकी प्यारपूर्ण चालाकी को टोका । हरगोविन्दभाई ने सन्तों को परोसना आरज़्भ किया । जैसे ही उन्होंने सन्तों को दो लड्डू परोसना आरज़्भ किया, स्वामी ने उन्हें रोक दिया और कहा, 'प्रत्येक को एक-एक लड्डू दो ।'

स्वामी ने तो थोड़ा सा लड्डू, रोटला और उड़द की दाल खाई । दूसरे पहर उन्होंने कथावार्ता की । थोड़ी देर आराम करके चल दिये । कृष्णजीभाई ने गुणातीतानन्द स्वामी की सेवा का अमूल्य लाभ लिया ।

कृष्णजीभाई और हरजीवनभाई को स्वामी ने आज्ञा करी, 'राजकोट जाओ । वहाँ जाकर यजमानवृज़ि करना । महाराज तुज़्हारा व्यवहार चलाएँगे ।'

स्वामी की आज्ञानुसार दोनों भाई राजकोट आकर वहीं बस गये । पहले उन्होंने जूनागढ़ में लिपिक के नाते और ऊना मन्दिर में पुजारी के नाते सेवा की थी ।

कृष्णजीभाई के तीन पुत्र थे । वैजनाथभाई, माधवलालभाई और मोहनभाई । कृष्णजीभाई राजकोट मन्दिर में सवेरे और शाम नियमित कथावार्ता किया करते थे । उनकी सबीज एवं ज्ञानमयी वार्ता से हरिभज़्त बहुत प्रभावित थे । जूनागढ़ मंदिर के प्रमुख सद्‌गुरु भी प्रभावित थे और वे उन्हें प्रेम से बुलाकर वहाँ भी सभा में वार्ता करवाते ।

कृष्णजीभाई की बातों में 'स्वामी अक्षर हैं और महाराज पुरुषोज़म हैं' ऐसा अक्षरपुरुषोज़म की शुद्ध समझ का प्रवाह चला आ रहा था । वे अत्यन्त विनम्र स्वभाव के थे । वे चींटी जैसे जीव को भी दु:ख नहीं देते थे । उनकी यह प्रिय साखी थी :

नाने से हो नाने रहिए, जैसी नानी दूब ।
घास फीस सब उड़ गया, दूब खूब की खूब ॥

वे स्वामी के स्वरूप को सबमें देखते थे । फिर सत्संग में किसी के भी सामने मान कैसे रह सकता ? सत्संग में सबको शिक्षा देते कि हमेशा दासानुदास बनकर रहना चाहिए । उनकी अपनी आवश्यकताएं प्रिय भज़्तों से सरलता से पूरी हो जाती थीं । फिर भी स्वामी के आदेशानुसार, वे नियमित रूप से आठ घर जाकर भिक्षा माँगते । प्राप्त भिक्षा में से दसवाँ भाग मन्दिर को देकर शेष घर ले जाते । तब वे खाना बनाकर खाते । लोग प्रेम से उन्हें कृष्णजी अदा कहते थे ।

इस अवधि में शास्त्रीजी महाराज राजकोट में जीवणराम शास्त्री से गीता के दर्शन का अध्ययन कर रहे थे । गुणातीतानन्द स्वामी में श्रद्धा और विश्वास रखने वाले बहुत सारे हरिभज़्त और युवालोग शास्त्रीजी महाराज के अति शुद्ध व्यवहार और ब्रह्मज्ञान को देख-समझकर उनकी ओर आकर्षित हुए ।

कुछ द्वेषी संत और हरिभज़्त शास्त्रीजी महाराज की बढ़ती प्रसिद्धि को पचा नहीं पाये । इसलिए, उन्होंने उनको अपमानित करने का निश्चय किया । 'शास्त्रीजी महाराज को राजकोट मन्दिर में नहीं रहने देना चाहिए ।' ऐसे एक लिखित प्रस्ताव पर द्वेषियों ने अग्रणी भज़्तों के हस्ताक्षर करवाये ।

गुणातीतज्ञान वाले हरिभज़्तों के साथ कृष्णजी अदा ने इस प्रसंग में निश्चय किया कि वे शास्त्रीजी महाराज का पक्ष दृढ़ता से लेंगे । हिमराजभाई जो गुणातीतानन्द स्वामी का कृपापात्र शिष्य था, उसने शास्त्रीजी महाराज के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये । हिमराजभाई राजकोट सत्संग का प्रभावशाली व्यज़्ति था, किन्तु जब कृष्णजी अदा को पता चला कि राजकोट मन्दिर से शास्त्रीजी महाराज को निकाले जाने वाले इस प्रस्ताव पर उसने हस्ताक्षर कर दिये हैं तो उन्होंने अपने गुरुभाई एवं परम प्रिय मित्र हिमराजभाई से सदा के लिए सज़्बन्ध तोड़ दिये । जीवनभर हिमराजभाई की सूरत देखने से भी मना कर दिया । यूँ तो कृष्णजी अदा बड़े विनम्र थे किन्तु भगवान के भज़्तों का पक्ष रखने में बहुत शूरवीर थे ।

शास्त्रीजी महाराज कृष्णजी अदा का बड़ा आदर करते थे । राजकोट में रहने के समय जो भी उनके समागम के लिए आता उससे कहते जूनागढ़ जाकर जागा भज़्त के दर्शन करो । लोगों से वे यह भी कहते जब तुम राजकोट में हो तो तुज़्हें कृष्णजी अदा के घर जाना चाहिए और उनकी

कथावार्ता सुननी चाहिए । अदा भी अपने घर आनेवाले हरिभज़्तों से शास्त्रीजी महाराज की महिमा का उल्लेख करते ।

वे हरिभज़्तों से कहा करते थे, 'इन दो देशों में शास्त्रीजी जैसा त्यागी साधु कोई नहीं है । वे अतुलनीय हैं । सौ मस्तक कुरबान करने पर भी हमें उनका पक्ष लेना चाहिए । ये बहुत महान साधु हैं ।'

कृष्णजी अदा सत्संग में आदरणीय वयोवृद्ध व्यज़्ति थे । शास्त्रीजी महाराज की महानता समझकर हरिभज़्तों का सही मार्गदर्शन करते थे ।

कृष्णजी अदा शास्त्रीजी महाराज के पक्ष में रहे । शास्त्रीजी महाराज को मन्दिर से बाहर निकालने के प्रस्ताव पर कृष्णजी अदा ने हस्ताक्षर नहीं किये ।

इस घटना के पश्चात् जूनागढ़ के विज्ञानदास स्वामी, योगीजी महाराज आदि सात साधुओं का मण्डल राजकोट कृष्णजी अदा के घर आया । जब राजकोट मन्दिर के लोगों को पता चला कि ये संत जिनके समर्थक कृष्णजी अदा हैं शास्त्रीजी महाराज के मण्डल से मिलने जा रहे हैं, उन्होंने उनका मन्दिर में प्रवेश निषिद्ध कर दिया ।

ज़्योंकि सार्वजनिक रूप से आज्ञा कर दी गई थी, कोई भी त्यागी साधु कृष्णजी अदा के घर न जा सकता था । कृष्णजी अदा की भज़्ति और भजन में इस गंदी आज्ञा से कोई अन्तर नहीं पड़ा ।

एक बार जूनागढ़ से बालमुकुन्द स्वामी और उनके शिष्य राजकोट पधारे । गुणातीतानन्द स्वामी के परमभज़्त बालमुकुन्द स्वामी कृष्णजी अदा से मिले बिना कैसे रह सकते थे ? पाँच साधुओं के साथ वे वहाँ गये और मिलकर बड़े प्रसन्न हुए । बहुत देर तक वे पुराने दिनों की बातों का स्मरण करते रहे और मन्दिर लौट आये, किन्तु बालमुकुन्द स्वामी के विरुद्ध कोई चूँ भी न कर सका ।

त्यागियों द्वारा निरन्तर उपाधि खड़ी करने से, महामुज़्त कृष्णजी अदा ने शास्त्रीजी महाराज को प्रेरणा दी कि वरताल मन्दिर छोड़ दें । शास्त्रीजी महाराज ने पहला मन्दिर बोचासण में बनवाया और वहाँ अक्षरपुरुषोज़म की धातु की मूर्तियाँ स्थापित कीं । अब अदा ने अपने शिष्यों को बोचासण जाने के लिए कहना आरज़्भ किया । वे कहा करते थे, 'अक्षरपुरुषोज़म का ज्ञान जो अभी तक एक कोने में सीमित था अब चरोतर (खेड़ा जिला) तक फैल

गया । इसलिए, जो इस ज्ञान के बारे में खुलकर बोलना और सुनना चाहते हैं उन्हें बोचासण जाना चाहिए ।'

वि.सं. १९६५ (सन् १९०९) में बोचासण मन्दिर में अक्षरपुरुषोज़म की मूर्तियाँ स्थापित हो जाने के पश्चात् कृष्णजी अदा की इच्छा के अनुसार 'स्वामी की बातें' का पारायण हुआ था । इस समारोह में राजकोट क्षेत्र के सभी हरिभज़्त उपस्थित रहे थे । शास्त्रीजी महाराज, निर्गुण स्वामी और कृष्णजी अदा के प्रवचन सुनकर प्रत्येक को आनन्द का अनुभव हुआ था । गोविन्द भज़्त नाम का एक नया हरिभज़्त जो वढ़वाण से आया था, उसने कृष्णजी अदा की भज़्तिपूर्वक सेवा की और अदा का हृदय जीत लिया । चूँकि कृष्णजी अदा का शरीर अस्वस्थ था, इसलिए वे दस दिन के लिए आणन्द रुक गये । उस गोविन्द भज़्त द्वारा निरन्तर देखभाल और सेवा से कृष्णजी अदा बहुत प्रसन्न हुए और उस पर अपना आशीर्वाद एवं सुख की कृपावर्षा की । कृष्णजी अदा ने आणन्द में सत्संगियों को खूब आनन्द दिया । राजकोट में बैठे वे गुजरात के व्यज़्तियों के आतिथ्य का बारबार स्मरण करते थे ।

कृष्णजी अदा ने विज्ञानदासजी, योगीजी महाराज और अन्य पाँच संतों को जूनागढ़ से राजकोट आने की प्रेरणा दी । वे सब आये, वहाँ आकर अदा से मिले । शास्त्रीजी महाराज को भी पत्र भेजकर सारंगपुर से राजकोट बुलवाया । राजकोट में शास्त्रीजी महाराज - योगीजी महाराज के बीच प्रथम भेंट हुई, जो ऐतिहासिक बनी । इसके लिए सेतुरूप थे कृष्णजी अदा — जिन्होंने यह मिलाप करवाया ।

'ज्ञान-यज्ञ' (योगीजी महाराज और शास्त्रीजी महाराज) की जोड़ी ने इस पृथ्वी के ऊपर शुद्ध उपासना का डंका बजाया । इन सन्तों को प्रेरित एवं उत्साहित करने के कारण चारों ओर से कृष्णजी अदा पर आक्रमण हुए, परन्तु उन्होंने इन पर ध्यान नहीं दिया । 'ज्ञान-यज्ञ' की जोड़ी का परिचय कराने के कारण सत्संग कृष्णजी अदा का सदा-सदा कृतज्ञ रहेगा ।

कृष्णजी अदा को वृद्धावस्था शिथिल करती जा रही थी । वि.सं. १९६९ (सन् १९१३) के अन्त में उन्होंने धाम में लौट जाने का निश्चय किया । श्रावण मास में वे रोगग्रस्त हो गये । उनकी इच्छानुसार शास्त्र

पारायण के सप्ताह का आयोजन किया गया । शास्त्रीजी महाराज, योगीजी महाराज और निर्गुणदासजी को तार भेजे गये जब कि वे गुजरात में विचरण कर रहे थे । कृष्णजी अदा शास्त्रीजी महाराज को देखकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा, 'तुज़्हारी प्रतीक्षा में बैठा हूँ ।'

तब उन्होंने छोटे ज्ञानजी स्वामी (योगीजी महाराज) को बुलाया । उन्हें निकट बुलाकर सिर पर दोनों हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और कहा, 'स्वामी ! शास्त्रीजी महाराज का संग रखना और जो वे कहें वह करना ।'

निर्गुण स्वामी जो वहाँ उपस्थित थे, उन्होंने कहा, 'इन शज़्दों को स्मरण रखना । आपके सिर पर स्वयं श्रीजीमहाराज एवं स्वामी ने हाथ रखे हैं ।' कृष्णजी अदा को योगीजी महाराज से उनके बचपन से ही बहुत स्नेह था ।

रात्रि दो बजे शास्त्रीजी महाराज और अन्य संतों को मन्दिर से बुलवाया । 'स्वामी ! जय स्वामिनारायण', अब मैं धाम में जा रहा हूँ ।' इतना कहकर कृष्णजी अदा आश्विन शुज़्ल एकादशी, संवत १९६९ (सन् १८१३) को अक्षरधाम चले गये ।

शास्त्रीजी महाराज ने आजी नदी के किनारे अग्नि संस्कार के लिए जगह चुनी । अग्नि संस्कार के स्थान को श्रीजीमहाराज का प्रसादी जल छिड़ककर पवित्र किया गया । वहाँ अदा का अग्नि-संस्कार किया गया । अब वहाँ कृष्णजी अदा की स्मृति में एक छोटा सा मन्दिर है । सत्संगियों के लिए यह स्थान तीर्थस्थल बन गया है ।

आबालवृद्ध में शील-संस्कार का सिंचन करती अनुपम प्रवृत्ति

सत्संग शिक्षण परीक्षा

सत्संग प्रारंभ

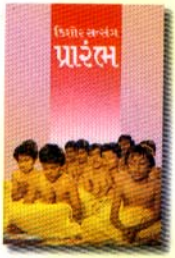

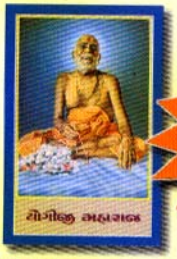

बालकों के लिए
बाल सत्संग परीक्षाएँ,
उच्चतर अध्ययन के लिए
सत्संग प्राज्ञ परीक्षाएँ

सत्संग प्रवेश

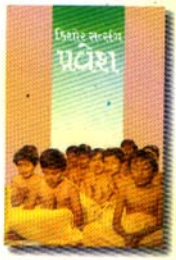

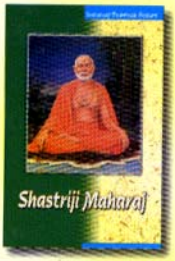

सत्संग परिचय (मुद्रण में)

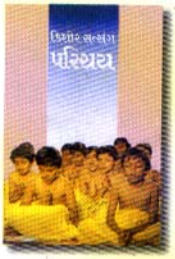

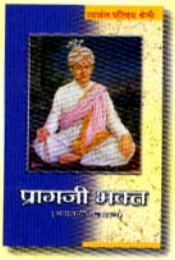

सत्संग प्रवीण (मुद्रण में)

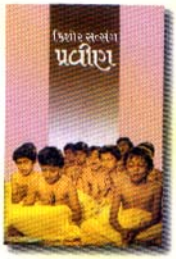

सत्संग शिक्षण परीक्षा

बोचासणवासी श्री अक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था, अमदावाद-४.